

श्रीचैतन्यचरितामृतान्तर्गत
श्रीरायरामानन्द-संवाद



गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

॥ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीचैतन्यचरितामृतान्तर्गत

श्रीरायरामानन्द-संवाद

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके
अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज
द्वारा
सम्पादित और तद्विहित विवृति सहित

प्रकाशकः

श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज

प्रथम संस्करणः ५००० प्रतियाँ

शारदीय रासयात्रा, ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान

केशव गोस्वामी महाराजजीकी तिरोभाव तिथि

श्रीचैतन्याब्द ५२०

७ अक्टूबर, २००६

सर्वाधिकार सुरक्षितः

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ०प्र०)

०५६५-२५०२३३४

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ०प्र०)

०५६५-२८१५६६८

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली

०११-२५५३३५६८

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
दानगली, वृन्दावन (उ०प्र०)

०५६५-२४४३२७०

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प०ब०)

०९३३३२२२७७५

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन

०५६५-२४४३१०१

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

भूमिका

अस्मदीय परमाराध्य नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी कृपा एवं प्रेरणासे आज श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें वर्णित श्रीरायरामानन्द-संवादकी सज्जन-तोषणी नामक व्याख्या एक पृथक् लघु-ग्रन्थके रूपमें श्रद्धालु पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार प्रसन्नता हो रही है।

श्रीरायरामानन्द-संवाद श्रील कृष्णदास कविराजकृत श्रीचैतन्य-चरितामृत ग्रन्थका उज्ज्वल रत्न 'कौस्तुभमणिस्वरूप' है। श्रीचैतन्य-चरितामृत शुद्धभक्ति-सिद्धान्तरूप अनुपम ग्रन्थ-रत्न है। श्रील नरोत्तम ठाकुर महाशयने इसके सम्बन्धमें उल्लेख किया है—

कृष्णदास कविराज, रसिक भक्त-माझ,
जेहो कैल चैतन्यचरित।
गौर-गोविन्द-लीला, शुनिते गलये शिला,
ताहाते ना हइल मोर चित॥

(प्रार्थना, कीर्तन २)

श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी एक उच्चकोटिके रसिक और भावुक भक्त हैं। उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृत नामक एक अनुपम ग्रन्थ लिखा है। उनके श्रीगौरलीलाका ग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत और श्रीगोविन्दलीलाका ग्रन्थ श्रीगोविन्दलीलामृत है। ये दोनों ही ग्रन्थ-रत्न अप्राकृत साहित्य भण्डारके श्रेष्ठ अवदान हैं। सर्ववेदान्तसार ग्रन्थराज श्रीमद्भागवत जिस प्रकार श्रीभगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यासका समाधि-लब्ध शुद्धभक्तिका आकर ग्रन्थ है, उसी प्रकार उक्त दोनों ग्रन्थ भी समग्र वेद-वेदान्त-इतिहास-पुराण आदिके सारस्वरूप हैं। श्रीकविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें दीनतापूर्वक उल्लेख किया है—

एइ ग्रन्थ लेखाय मोरे 'मदनमोहन'।
आमार लिखन येन शुकेर पठन॥

सेइ लिखि, मदनगोपाल मोरे ये लिखाय।

काष्ठेर पुतली येन कुहके नाचाय॥

(चै. च. आ. ८/७८-७९)

इस ग्रन्थको स्वयं श्रीमदनमोहनजी मुझसे लिखवा रहे हैं। मेरा लिखना तो उसी प्रकार है, जिस प्रकार एक शुक पक्षी किसी एक व्यक्तिके सिखानेसे कुछ बोलता है। मैं वही लिखता हूँ, जो स्वयं श्रीमदनगोपालजी लिखवाते हैं। मैं कठपुतली हूँ, वे जैसा नचाते हैं मैं वैसा ही नाचता हूँ अर्थात् लिखता हूँ।

श्रीमत् कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृतमें इस ग्रन्थ-रचनाके विषयमें यह लिखा है—

चैतन्यलीला-रत्न-सार, स्वरूपेर भाण्डार,

तेंहो थुइला रघुनाथेर कण्ठे।

ताँहा किछु ये शुनिलुँ, ताँहा ईहा विस्तारिलुँ,

भक्तगणे दिलुँ एइ भेटे॥

(चै. च. म. २/८४)

अर्थात् षड्गोस्वामियोंमेंसे अन्यतम श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीने श्रीधाम जगन्नाथपुरीमें सोलह वर्षों तक साक्षात् रूपसे श्रीशचीनन्दन गौराङ्ग महाप्रभुके श्रीचरणोंके समीप रहकर अपने चिन्मय नेत्रों और कानोंसे प्रत्यक्ष रूपमें जो कुछ देखा और सुना था तथा श्रीगौरसुन्दरके अन्तरङ्ग परिकरवर श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामीके समीप जो कुछ श्रवण किया था, वही श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थकी रचनाका प्रधान अवलम्बन है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने इस ग्रन्थके अमृतप्रवाह भाष्यमें यह उल्लेख किया है—श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामी श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तरङ्ग पार्षद हैं। उन्होंने श्रीमन्महाप्रभुकी शेष लीलाका अपने कड़चाओंमें सूत्र रूपसे वर्णन किया है। श्रीरघुनाथदास गोस्वामीने उनके कड़चाओंको कण्ठस्थ कर लिया था। श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रील रघुनाथदास गोस्वामीसे उन कड़चाओंको श्रवणकर

उसीके आधारपर विस्तारपूर्वक चैतन्यचरितामृत ग्रन्थकी रचना की है। श्रील कविराज गोस्वामीने इस आशयके सम्बन्धमें अन्यत्र भी लिखा है—

स्वरूप गोसाजि कड़चाय ये लीला लिखिल।
रघुनाथदास-मुखे ये-सब शुनिल॥
सेइ सब लीला कहि संक्षेप करिया।
चैतन्य-कृपाते लिखि क्षुद्रजीव हजा॥

(चै. च. अ. ३/२६७-२६८)

कविराज गोस्वामीका जन्म पश्चिम बंगालमें प्रसिद्ध रेलवे-स्टेशन नैहाटिके निकट झामटपुर नामक ग्राममें हुआ था। उन्होंने अपने माता-पिताका नाम, अपने बाल्य-कालका नाम अथवा वर्ण और आश्रमका नाम कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें अन्य व्यक्तियोंके द्वारा लिखे गए ग्रन्थोंके नामादिके आधारपर उनका प्रकट काल आनुमानिक १४५२ से १५३८ शकाब्द पर्यन्त है।

ग्रन्थकारके वर्ण-जाति परिचयके सम्बन्धमें विद्वानोंका मतभेद है। श्रील कविराज गोस्वामीने श्रीगोविन्दलीलामृत नामक एक सुबृहत् संस्कृत काव्य ग्रन्थकी रचना की है। अतः वैष्णव समाजने उन्हें 'कविराज' नामकी उपाधि दी। बंगालमें चिकित्सा करनेवाले वैद्योंको भी कविराज कहा जाता है। इसलिए कुछ लोग उनके वैद्य जाति या वर्णके होनेका भी अनुमान करते हैं।

श्रील कविराज गोस्वामीपर "तृणादपि सुनीचेन"—यह पूरा श्लोक चरितार्थ होता है। उनमें सारे वैष्णवोचित गुण विद्यमान थे। उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृतमें स्वयं लिखा है—

जगाइ-माधाइ हइते मुजि से पापिष्ठ।
पुरीषेर कीट हइते मुजि से लघिष्ठ॥
मोर नाम शुने येइ, तार पुण्य क्षय।
मोर नाम लय येइ, तार पाप हय॥

(चै. च. आ. ५/२०५-२०६)

ग्रन्थकारने श्रीचैतन्य महाप्रभुके परिकर श्रील रघुनाथदास गोस्वामीका ही अपने गुरुके रूपमें परिचय दिया है—

श्रीगोविन्द, श्रीचैतन्य, श्रीनित्यानन्द।
 श्रीअद्वैत, श्रीभक्त, आर श्रीश्रोतृवृन्द॥
 श्रीस्वरूप, श्रीरूप, श्रीसनातन।
 श्रीरघुनाथदास श्रीगुरु, श्रीजीवचरण॥

(चै. च. अ. २०/९६-९७)

इसी प्रकार श्रीचैतन्यचरितामृतके प्रायः प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उन्होंने लिखा है—

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।
 चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास॥

श्रील कविराज गोस्वामीने स्वरचित श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुके द्वारा कथित शिक्षाष्टक, श्रीरूप-शिक्षा, श्रीसनातन-शिक्षा, श्रीरायरामानन्द संवाद, श्रीगोपीनाथ आचार्य एवं सार्वभौम भट्टाचार्यका कथनोपकथन आदिरूप अनेक रत्नोंका वर्णन किया है। ये सभी प्रसंग सात्त्वत् शास्त्रोंके सार हैं। इनमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन तत्त्वोंका विशद रूपसे वर्णन हुआ है। श्रीरायरामानन्दके संवादमें श्रीराधिकाके प्रेमको साध्यशिरोमणि निश्चित करके भी पुनः उस प्रेमके प्रेमविलास-विवर्त अर्थात् विच्छेद-कालमें भी अधिरूढ़ भाववशतः सम्भोगके अभावमें भी सम्भोगकी स्फूर्तिरूप एक परम उच्च अवस्थाकी बात बतलानेपर श्रीमन्महाप्रभुने इसको साध्यावधि स्वीकार किया और केवल ब्रजकी सखियोंका आनुगत्य ही उस चरमतम साध्यवस्तुको पानेका एकमात्र उपाय है, इसे भी स्वीकार किया। रायरामानन्दके संवादके श्रद्धापूर्वक श्रवणसे श्रीराधाकृष्णके चरणकमलोंमें प्रेमभक्ति होती है तथा आनुसांगिकरूपमें कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्व, रसतत्त्व सबका ज्ञान भी हो जाता है।

श्रीरायरामानन्द उड़ीसाके प्रतापी सम्राट महाराज प्रतापरुद्रके दक्षिण-भारतीय क्षेत्रके राज्यपाल थे। वे भगवती गोदावरीके तटपर

स्थित विद्यानगरमें (वर्तमान कोबूर, राजमुन्दरी) रहकर राज्य-कार्य सम्भालते थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु जियड़ नृसिंहका दर्शनकर उसीके सन्निकट गोदावरीके तटपर प्रातःकाल स्नान करनेके लिए पधारे। श्रीरायरामानन्द भी राजकीय ठाट-बाटसे ब्राह्मणों द्वारा वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणके मध्य स्नान कर रहे थे। वहीं दोनोंमें भेंट हुई। दोनों एक-दूसरेसे बड़े प्रभावित हुए। श्रीरायरामानन्दने श्रीचैतन्य महाप्रभुको उसी नगरमें कुछ दिन निवास करनेका आग्रह किया। उनके अनुरोधसे श्रीमन्महाप्रभुने किसी एक वैदिक वैष्णव ब्राह्मणके घरपर कुछ दिन निवास किया। संध्याके समय श्रीरायरामानन्द दीन-हीन वेशमें श्रीमन्महाप्रभुसे मिले। महाप्रभुजीने जीवोंके साध्य-साधनके सम्बन्धमें प्रामाणिक शास्त्रीय श्लोकोंको उद्धृत करते हुए उन्हें साध्य निर्णय करनेके लिए आदेश दिया।

श्रीरामानन्दरायके द्वारा सर्वप्रथम वर्णाश्रमधर्मरूप जनसाधारणके सामान्य धर्मका उल्लेख किए जानेपर श्रीमन्महाप्रभुने अन्तिम ज्ञान-शून्य शुद्धभक्तिको साध्यवस्तुके रूपमें स्वीकार किया। पुनः भक्तिके सम्बन्धमें महाप्रभुजी द्वारा कुछ और वर्णन करनेके लिए कहे जानेपर श्रीरामानन्दरायने पहले शुद्ध कृष्ण-रतिरूपा प्रेमभक्ति, तत्पश्चात् दास्यप्रेम तत्पश्चात् सख्यप्रेम तत्पश्चात् वात्सल्यप्रेम और अन्तमें कान्ता-भावगत प्रेमको ही साध्यसार बतलाया। कान्ताप्रेम किस प्रकारसे साध्यसार है, उसे भी श्रीरायरामानन्दजीने विविध प्रकारके शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर बतलाया। श्रीमन्महाप्रभु द्वारा उसे चरमसाध्य स्वीकार किए जानेपर श्रीरामानन्दरायने श्रीमती राधिकाके प्रेमको सर्वोच्च बतलाया। उसे सुनकर श्रीमन्महाप्रभुजी बड़े प्रसन्न हुए और उनसे कृष्णस्वरूप, राधास्वरूप, रसतत्त्वका स्वरूप तथा प्रेमतत्त्वका वर्णन करनेके लिए कहा। रायरामानन्दजीने शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर क्रमशः इन तत्त्वोंका विशद रूपसे वर्णन किया। श्रीमन्महाप्रभुजीने इससे भी और आगे कुछ कहनेका आदेश दिया। तब रायरामानन्दजीने स्वरचित प्रेम-विलास-विवर्तरूप विप्रलम्भगत अधिरूढ़ भावमय एक गीत गाया। अन्तमें श्रीमन्महाप्रभुके कहनेपर श्रीरामानन्दरायने श्रीराधा-कृष्णकी प्रेमसेवारूप परम-साध्य वस्तुको पानेके लिए उपायस्वरूप

व्रजसखियोंके आनुगत्यमें भजनानुशीलनको विशेष रूपसे स्थिर किया। कुछ दिनों तक प्रतिरात्रि नाना प्रकारसे श्रीराधाकृष्णसम्बन्धी कथा-वार्त्ताओंके श्रवण-कीर्तन करनेके पश्चात् श्रीरामानन्दराय श्रीमन्महाप्रभुके मूल-तत्त्व और स्व-स्वरूपका दर्शनकर मूर्च्छित हो गए। महाप्रभुने अपने सुशीतल करकमलोंसे उन्हें उठाकर आलिङ्गनपाशमें आबद्ध कर लिया और अपने इस स्वरूपको अन्यत्र कहीं भी प्रकट करनेके लिए निषेध किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने रायरामानन्दजीको राज्य-कार्यको परित्यागकर जगन्नाथपुरी आनेका आदेश दिया और उन्हें बतलाया कि मैं भी दक्षिण भारतीय तीर्थोंका दर्शनकर जगन्नाथपुरी लौटूंगा, तब हम दोनों परस्पर श्रीराधाकृष्णकी लीला-कथाओंका वर्णन एवं श्रवणकर सुखपूर्वक जीवनका अवशेष काल व्यतीत करेंगे।

कुछ वर्षों पूर्व मैंने श्रीजगन्नाथपुरीमें पुरुषोत्तम मासमें राय रामानन्द-संवादकी विस्तृत व्याख्या की थी। उसे प्रिय बेटी सविताने बड़ी कुशलतासे लिपिबद्ध कर रखा था। उसने उस संग्रहको प्रिय बेटी मधु खण्डेलवाल एम. ए., पीएच. डी. को संशोधित करनेके लिए दिया। मधु खण्डेलवालने उस व्याख्याको श्रीचैतन्यचरितामृतके श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके अमृतप्रवाह भाष्य और श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' के अनुभाष्यके आधारपर तथा भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, विदग्ध-माधव एवं ललित-माधव आदि ग्रन्थोंके तथ्यों एवं प्रमाणोंको संग्रहकर उस व्याख्याको और भी परिवर्द्धितकर आकर्षक रूप दिया। तत्पश्चात् मैंने इस व्याख्यामें और भी कुछ संशोधन, सम्बर्धन किया है। आशा है श्रद्धालु पाठकगण इस ग्रन्थका अनुशीलनकर बहुत ही लाभान्वित होंगे।

अन्तमें इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करनेके लिए बेटी सविता, बेटी मधु, कम्प्यूटर द्वारा कम्पोजिंग इत्यादि करनेके लिए श्रीमान् कृष्णकृपा ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुन्दरगोपाल, बेटी शान्ति दासी, प्रूफ-रीडिंग आदिके लिए श्रीभक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीओमप्रकाश व्रजवासी, मुखपृष्ठका चित्र प्रस्तुत करनेमें श्रीमान् वासुदेव दास तथा इस ग्रन्थके प्रकाशन हेतु आर्थिक सेवाके लिए श्रीमान् विष्णुदास आदिके लिए

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका-गिरिधारीसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इनपर अपनी कृपाकी वर्षा करें।

इस ग्रन्थके प्रकाशनमें क्षिप्रताके कारण कुछ त्रुटियोंका रहना स्वाभाविक है। उदार पाठकगण उसका संशोधनकर पाठ करेंगे और मुझे सूचित करेंगे जिससे अगले संस्करणमें इनका संशोधन कर लिया जाए। अलम् इति विस्तरेण॥

श्रीनन्दोत्सव,
कृष्ण नवमी,
३१ श्रावण, ५२० चैतन्याब्द
१७ अगस्त, २००६ ई.

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

(श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, अष्टम परिच्छेद)

श्रीरायरामानन्द-संवाद

संचार्य रामाभिध-भक्तमेघे स्वभक्तिसिद्धान्तचयामृतानि।

गौराब्धिरेतैरमुना वितीर्णैस्तज्जत्व-रत्नालयतां प्रयाति ॥१॥

अनुवाद—भक्ति-सिद्धान्तके अथाह अमृत-समुद्ररूप श्रीगौराङ्ग महाप्रभु रामानन्दरूप भक्त-मेघमें निज विषयक भक्तिसिद्धान्तोंका सञ्चार करके, उनसे ही—उन रामानन्दरूप मेघ द्वारा ही वर्षित, उन्हीं भक्तितत्त्व-सिद्धान्तोंको अनुभवकर स्वयं रत्नालय बन गए।

विवृत्ति

॥श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः॥

नमः ॐ विष्णुपादाय गौरप्रेष्ठायभूतले।
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान-केशव इति-नामिने॥
अतिमर्त्यचरित्राय स्वाश्रितानाञ्च पालिने।
जीवदुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम-प्रेम-दायिने॥
गौराश्रय-विग्रहाय कृष्णकामैक-चारिणे।
रूपानुग-प्रवराय विनोदेति स्वरूपिणे॥
प्रभुपादान्तरङ्गाय सर्वसद्गुणशालिने।
मायावाद-तमोघ्नाय वेदान्तार्थविदे नमः॥
नमः ॐ विष्णुपादाय कृष्ण-प्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमते भक्तिसिद्धान्त सरस्वतीति नामिने॥
नमो भक्तिविनोदाय सच्चिदानन्द-नामिने।
गौरशक्ति-स्वरूपाय रूपानुगवराय ते॥
येन विस्तारितो गौरकृपया रससागरः।
विशाखिकास्वरूपं तं रामानन्दमहं भजे॥

नमो महावदान्याय कृष्णप्रेमप्रदाय ते।

कृष्णाय कृष्णचैतन्यनाम्ने गौरत्विवेषे नमः॥

जिनकी प्रेरणा और अहैतुकी कृपासे दीन-हीन मैं, श्रीराय रामानन्द संवादकी 'विवृत्ति' नामक व्याख्या करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ, उन ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त केशव गोस्वामीके श्रीचरणकमलोंमें कोटिशः प्रणाम करता हूँ। पुनः जगद्गुरु श्रील प्रभुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर और भक्ति-भागीरथीके भगीरथ श्रीश्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरके विशुद्ध भक्तिप्रद श्रीचरणोंमें बारम्बार नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने क्रमशः श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुभाष्य और अमृतप्रवाह भाष्योंमें श्रीरायरामानन्द-संवादका गम्भीर तात्पर्य प्रकाशित किया है। तत्पश्चात् श्रीगौराङ्गमहाप्रभुकी कृपासे रस-सागरको परिवर्द्धित करनेवाले विशाखा-सखीस्वरूप श्रीराय रामानन्दके श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण करता हूँ। अन्तमें श्रीराधाभावद्युति-सुवलित श्रीकृष्णस्वरूप श्रीशचीनन्दन गौरहरिको हृदयमें धारणकर राय रामानन्द संवादकी विवृत्ति लिखनेमें प्रवृत्त हो रहा हूँ।

संचार्य—संचारित करके। वाष्पीकरण प्रक्रिया सर्वविदित है, जिसके द्वारा सूर्यकी तीव्र किरणें समुद्रके जलको सोख लेती हैं, तब वह जल अपने क्षारत्व दोषका परित्याग करके मेघोंका रूप धारण कर लेता है। जब यह मेघसमुदाय वनों या पर्वतोंसे टकराता है, तब वही जल वर्षाके रूपमें परिणत हो पुनः समुद्रमें गिरता है। स्वाति नक्षत्रके संयोगसे समुद्रमें अवस्थित सीप जब उसी वृष्टिके जलको पुनः अधिग्रहण करती हैं, तब वह जल उनके संस्पर्शसे मोती या रत्न बन जाते हैं। इन अमूल्य रत्नोंको धारण करनेके कारण समुद्र रत्नाकर कहलाता है। इसी रूपककी सङ्गति करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु ही भक्तिसिद्धान्त-रत्नवारिधि हैं और श्रीराय रामानन्द हैं—पीयूष मेघ। भक्तितत्त्वरूपी जल-धाराओंके निखिल जलधिस्वरूप श्रीमन्महाप्रभुने वाष्प सदृश अपनी दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर रसमयी अमृत-धाराओंका अलक्षित रूपसे श्रीरामानन्दके हृदयमें सञ्चार किया था, इन्हीं धाराओंको कर्णसीपोंसे पुनः उपलब्ध

किये जानेपर ये अप्रतिम धाराएँ सिद्धान्तरत्न बन गईं और इनका पान करनेके कारण महाप्रभुजी भक्तिसिद्धान्त-रत्नाकर बन गए। इस आशयको राय रामानन्दजीने स्वयं प्रकट किया है—

एत तत्त्व मोर चित्ते कैले प्रकाशन।
ब्रह्माके वेद येन पड़ाइल नारायण॥
अन्तर्यामी ईश्वरेर एइ रीति हये।
बाहिरे ना कहे, वस्तु प्रकाशे हृदये॥

(चै. च. म. ८/२६३-२६४)

रामाभिधभक्तमेघे—रसिकवर्य श्रीरामानन्द राय भक्तिसिद्धान्तके अगाध अमृत-समुद्ररूप श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके नित्य पार्षद हैं। यह भक्त-मेघ परम मनोहर, परम अभीष्ट, परम लोभनीय तथा परम आस्वाद्य है, इसी मेघको 'राम' नामसे अभिहित किया है। श्लोकमें प्रयुक्त विशेषण 'भक्त' से तात्पर्य है कि मात्र भक्तजनोंके चित्तमें ही भक्तितत्त्व स्फुरित हो सकता है, दूसरे इसके प्रकाशकी शक्तिको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। श्रीमन् राय रामानन्द ही वे भक्त-मेघ हैं, जो महाप्रभुजीके निज-विषयक भक्तिसिद्धान्तोंको धारणकर पुनः वर्षण कर सके। भक्तहृदयके भावसागरसे परिसिञ्चित होकर यह भक्तिवर्षा और भी अनिर्वचनीय, आस्वादन-चमत्कारिता महाप्रभुजीको अनुभव करा सकी।

स्वभक्तिसिद्धान्तचयामृतानि—अर्थात् निज विषयक भक्तिसिद्धान्त-समूह। ये भक्तिसिद्धान्तसमूह ही अमृत हैं। स्वभक्ति—“अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ, समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्” तात्पर्य यह है कि यह अमृतमयी सेवा स्वारसिकी उपासना है—मञ्जरीवृन्दकी आनुगत्यमयी सेवा है—यही जीवमात्रके लिए परम साध्य वस्तु है। श्रीमन्महाप्रभुजीसे पूर्व किसीने इसे साधकोंके सम्मुख प्रकट नहीं किया था। इस मञ्जरीसेवामें श्रीराधाजीके प्रति स्थायीभाव होता है, जब कि श्रीकृष्णके प्रति सञ्चारीभाव। इस सेवामें श्रीकृष्णसे प्रीति इसलिए की जाती है कि वे राधाजीको सुख देनेवाले उनके प्राणवल्लभ हैं। इस प्रकारके भक्तिसिद्धान्तको यहाँ अमृतके समान

कहा गया है। सारांशतः यह स्वभक्तिसिद्धान्त अमृत-मधुरात्मक रागानुग-रूपानुगविशिष्ट प्रीतिसिद्धान्त है। भक्ति सर्वदा ही आनन्दस्वरूपा होनेसे परम आस्वादनीया है। इसकी महाभावरूपताको धारण करनेवाले हैं—स्वयं श्रीमन्महाप्रभु। महाप्रभुरूप जलधिमें क्षारत्व नहीं है, रसामृतत्व है, अपूर्णता नहीं अखिलता है, मगरमच्छ आदि भयानक हिंस्र जन्तु (कर्म, उपासना, ज्ञान) नहीं, प्रत्युत चित्ताकर्षक अनन्तरस-वैचित्री है, हृदय विदारक—उत्ताल तरङ्गोंसे भीषण गर्जनाएँ नहीं, अपितु संयोगात्मक-वियोगात्मक कल्लोल-हिल्लोलें उठती हैं, जिसमें भक्त एवं भगवान् दोनों ही निमग्न होते रहते हैं।

गौराब्धिरैतैरमुना वितीर्णैः—गौराब्धि अर्थात् गौर-समुद्र। अखिल-रसामृत-सिन्धु श्रीकृष्ण ही गौराब्धि हैं। अमुना अर्थात् इनके द्वारा अर्थात् रामानन्द मेघके द्वारा वितीर्ण अर्थात् वर्षित। आशय यह हुआ कि रामानन्दरूप मेघ द्वारा अपनी भक्तिके समस्त-सिद्धान्तरूपी अमृतको महाप्रभुरूप अब्धि (समुद्र) में वर्षा कराई। परोक्ष रूपसे अपने चित्तमें स्फुरित सिद्धान्तोंको राय रामानन्दजीने महाप्रभुके निकट प्रकाशित किया। महाप्रभुने पुनः स्वयं अपनी अप्रत्यक्ष प्रदत्त कृपाका आस्वादन किया—इन भक्तिरत्नोंको ग्रहण किया। भगवान् श्रीकृष्णने कहा ही है—“भवत्या मामभिजानाति।” महाप्रभुजीने लोकहितके लिए प्रश्न पूछे और राय रामानन्दने उत्तर दिए।

तज्ज्ञत्व-रत्नालयतां प्रयाति—भक्तिसिद्धान्त ज्ञानको ही यहाँ ‘रत्न’ कहा गया है। भक्तिरससे सराबोर भक्तिसिद्धान्त जब किसी अन्यतम भक्तके कर्णकुहरोंमें प्रवेश करते हैं, तब वे रत्नोदधि बन जाते हैं। महाप्रभुने राय रामानन्दके अन्तःकरणमें प्रेरणा दी। परम आग्रह तथा आदर्शकी स्थापना करते हुए उन्हें स्वयं सुना। इन्हीं रत्नोंको ग्रन्थ रूपमें प्रकाशित किया गया है, जो सर्वसाध्यशिरोमणि है।

स्वभावतः प्रश्न उठता है कि महाप्रभुजी स्वयं सम्पूर्ण रूपसे सम्पूर्ण सिद्धान्तोंके ज्ञाता थे यदि ऐसा नहीं होता तो वे राय रामानन्दके हृदयमें उन भक्तिसिद्धान्तोंको कैसे सञ्चार करते? अतः श्रीमन्महाप्रभु पहलेसे ही सर्वभक्तिसिद्धान्तविद थे। परन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि रामानन्द रायके मुखसे सुनकर प्रभुजी सिद्धान्तज्ञ

हुए—इसका तात्पर्य क्या है? इसका समाधान यह है कि प्रभुका पूर्वज्ञान केवल ज्ञान था और पीछेवाला ज्ञान—विज्ञान है। ज्ञान और विज्ञान एक बात नहीं है। ज्ञानका तात्पर्य साधारण ज्ञान है और विज्ञानका तात्पर्य विशेष अनुभवपूर्वक ज्ञान। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजीसे कहा—“ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञान समन्वितम् सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया” (श्रीमद्भा. २/८/३०) अर्थात् हे ब्रह्मा! मेरा ज्ञान अद्वय और परमगुह्य है और अद्वय होकर भी नित्य चार प्रकारका है—ज्ञान, विज्ञान, रहस्य तथा तदङ्ग। तुम जीवबुद्धिसे उसे समझ नहीं सकते, मेरी कृपासे इसकी उपलब्धि करो। ज्ञान मेरा स्वरूप है। विज्ञान भक्ति सम्बन्धी है, जीव मेरा रहस्य है, प्रधान मेरा ज्ञानाङ्ग है, इन चारों तत्त्वोंकी नित्य अद्वयता और नित्य रहस्यगत भेद मेरी अचिन्त्य-भेदाभेद-शक्तिका परिणाम है।

यहाँ ज्ञान अर्थात् कृष्णतत्त्व, विज्ञान अर्थात् राधातत्त्व, रहस्य अर्थात् प्रेमतत्त्व और तदङ्ग अर्थात् राधाकृष्ण विलासतत्त्व है।

अचिन्त्य-भेदाभेदतत्त्व भगवान् श्रीकृष्णको साधनभक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। किसीसे सुनकर प्राप्त जानकारी ‘ज्ञान’ कही जाती है, जब कि ज्ञानके हृदयमें अनुभवको ‘विज्ञान’ कहा जाता है—महाप्रभुजीको रामानन्द रायसे इस विज्ञानकी उपलब्धि हुई।

भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिके विषय हैं, पर आश्रय नहीं हैं। साधकके हृदयपर अपनी भक्तिका क्या प्रभाव पड़ता है, इससे वे सर्वथा अपरिचित थे। भक्त दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर सम्बन्ध भावसे उनकी सेवा करते हैं। अतः वे समस्त आश्रय-जातीय भक्तोंके विषय हैं। श्रीकृष्णमें आश्रय-जातीय प्रेम नहीं है। परम मनोहर श्रीकृष्णका दर्शन करके श्रीराधाजीको जो अनिर्वचनीय सुख-आनन्द होता है—इसका आस्वादन श्रीकृष्णको नहीं होता। राग-अनुराग विशेषतः मादनाख्य महाभावकी अवस्थामें श्रीराधा जिस दशाको प्राप्त करती हैं, इसकी आनन्दानुभूति श्रीकृष्णको कैसे हो सकती है? अतः श्रीराधाजीकी प्रणय महिमा कैसी है? उन्हें मेरी सेवा करनेसे किस प्रकारका सुख प्राप्त होता है? मेरी माधुरीका वे किस प्रकार रसास्वादन करती हैं? इन्हीं वाञ्छाओंको परिपूर्ण करनेके लिए राधाभाव और कान्तिको

ग्रहणकर आश्रय होकर श्रीकृष्ण ही श्रीगौरसुन्दर बनकर जगतमें आविर्भूत हुए हैं। और इन्होंने स्वविषयक भक्तिरससिद्धान्तके तत्त्वोंका भक्त राय रामानन्दमें सञ्चार किया—

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवा-
स्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्-
तद्भावाद्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥

(चै. च. आ. ४/२३०)

बिना कृपाशक्तिके यह सम्भव नहीं था। बृहद्भागवतामृतमें भी इसी प्रकारसे गोपकुमारके मस्तकपर करकमल रखकर उसे भावोंकी अनुभूति कराई गई है। इससे यह रहस्य भी द्योतित होता है कि जीव यदि भगवत्-सम्बन्धीय तत्त्वोंका आनन्द प्राप्त करना चाहता है तो वैसे अनुभव प्राप्त भक्तसे ही श्रवण करना चाहिए; क्योंकि उसीका हृदय स्वभावतः चिदानन्दमयी कथाओंको अभिसिञ्चितकर श्रोताओंको आस्वादन करा सकता है॥१॥

जय जय श्रीचैतन्य जय नित्यानन्द।

जयाद्वैतचन्द्र जय गौरभक्तवृन्द॥२॥

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवकी जय हो। श्रीनित्यानन्द प्रभुकी जय हो। श्रीअद्वैतचन्द्रकी जय हो। श्रीगौर भक्तवृन्दकी जय हो॥२॥

पूर्व-रीते प्रभु आगे गमन करिला।

‘जियङ्गनृसिंह’ क्षेत्रे कतदिने गेला॥३॥

यथापूर्व लोगोंको वैष्णव बनाते हुए उन्हें प्रेमभक्तिरस-सागरमें निमग्न करते हुए श्रीमन्महाप्रभुने आगे प्रस्थान किया और कुछ दिन पश्चात् जियङ्गनृसिंह क्षेत्रमें पदार्पण किया।

‘जियङ्गनृसिंह’ क्षेत्र—विशाखापट्टनमसे पाँच मीलकी दूरीपर सिंहाचल स्थान है। सिंहाचलमें रेलवे स्टेशन है। श्रीनृसिंहदेवका मन्दिर पर्वतके उच्च स्थानपर अवस्थित है। विशाखापट्टनममें यह मन्दिर ही सर्वाधिक सुविख्यात तथा समृद्धिसम्पन्न है। इसकी स्थापत्य कलाकी श्रेष्ठता

सर्वमनमुग्धकारी है। यहाँ एक उत्कीर्ण प्रस्तर शिला है, जिसपर यह अंकित है कि राजा तृतीय गोंकारकी भक्तिमती पत्नीने श्रीविग्रहको स्वर्णमण्डित किया था। श्रीनृसिंहदेवके सेवकवृन्द तथा अन्यान्य अधिवासिगण यहाँ निवास करते हैं। इसी पर्वतके ऊपर श्रीमन्दिरसे संलग्न यात्रियोंके ठहरनेके अनेक स्थान तथा गृहादि निर्मित हैं। मूल मन्दिरके बाहरी प्रकोष्ठमें श्रीविजय विग्रह तथा आन्तरिक प्रकोष्ठमें मूल नृसिंह भगवान्का श्रीविग्रह विराजमान है। श्रीरामानुजीय वैष्णव भक्तगण विजयनगरके राजाकी अधीनतामें श्रीनृसिंहदेवकी सेवा करते हैं।

ऐसी भी किंवदन्ती है कि श्रीनृसिंहदेवजीके श्रीविग्रहने जीयड़ नामके भक्तपर अपनी विशेष कृपा की थी; इसीलिए उस श्रीविग्रहका नाम जियड़नृसिंह पड़ गया और उस क्षेत्रको जियड़नृसिंह क्षेत्र कहा जाने लगा ॥३॥

नृसिंह देखिया कैल दण्डवत्प्रणति।

प्रेमावेशे कैल बहु नृत्य-गीत-स्तुति ॥४॥

श्रीमन्महाप्रभुने श्रीनृसिंह भगवान्के दर्शन किए और उन्हें दण्डवत्प्रणाम किया। तदनन्तर प्रेमके आवेशमें नृत्य गान किया और तत्पश्चात् बहुत प्रकारसे स्तव-स्तुति करने लगे। यहाँ यदि कोई यह प्रश्न करे कि राधाभाव-द्युति-सुवलित श्रीकृष्णस्वरूप श्रीगौरसुन्दर तो राधाभावमें आविष्ट श्रीब्रजेन्द्रनन्दन हैं; वे तो राधाभावसे श्रीकृष्ण-विषयक प्रेममें ही आविष्ट रहते हैं। ऐश्वर्यात्मकस्वरूप श्रीनृसिंहदेवके दर्शनसे उन्हें प्रेमावेश क्यों हो गया? हमारे गोस्वामीवर्ग उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण समस्त भगवत्ताके सार, अखिल रसामृतमूर्ति, अनन्त रस-वैचित्रीके आधार तथा भाव-वैचित्रीके मूर्तरूप हैं। प्रत्येक रस-वैचित्रीके आस्वादनमें ही श्रीकृष्णमाधुर्य आस्वादनकी पूर्णता है। श्रीनृसिंहदेव भी एक भगवत्-स्वरूप हैं। उनमें भी एक प्रकारकी रस-वैचित्री है। अतः आज उनके हृदयमें श्रीनृसिंहरूपके दर्शनसे उस रसवैचित्रीके रसास्वादनकी अभिलाषा जाग्रत हो उठी और मनोरथ पूर्ण होनेपर प्रेमाविष्ट होकर नृत्य-कीर्तनादि करने लगे ॥४॥

“श्रीनृसिंह, जय नृसिंह, जय जय नृसिंह।
 प्रह्लादेश जय पद्मामुखपद्मभृङ्ग ॥” ५ ॥

श्रीनृसिंह भगवान्की जय हो, जय हो। श्रीप्रह्लादके ईश आपकी जय हो। श्रीलक्ष्मीजीके मुखारविन्दके भ्रमर आपकी जय हो। पद्मामुखपद्मभृङ्ग अर्थात् स्ववक्षविलासिनी लक्ष्मीदेवीके कान्त आपकी जय हो। श्रीधर स्वामीने भी इसी प्रकारसे श्रीमद्भागवतके श्लोक (१०/७/१) की टीकामें स्वरचित श्लोक द्वारा श्रीनृसिंहदेवको प्रणाम किया है—

प्रह्लाद हृदयाह्लादं भक्ताविद्याविदारणम्।
 शरदिन्दुरुचिं वन्दे पारीन्द्रवदनं हरिम्।
 वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
 यस्यास्ते हृदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे॥

अर्थात् भक्त प्रह्लादके हृदयको आनन्दित करनेवाले, भक्तोंकी अविद्याको विदीर्ण करनेवाले, शरत्कालीन पूर्णिमाकी कान्तिसे युक्त श्रीनृसिंहदेवकी मैं वन्दना करता हूँ। मैं ऐसे नृसिंह भगवान्की वन्दना करता हूँ, जिनके मुखके भीतर वाणीकी स्वामिनी सरस्वती निवास करती हैं, जिनके वक्षस्थलपर लक्ष्मी वास करती हैं और हृदयमें चेतनाकी दैवीशक्ति निवास करती हैं ॥५॥

उग्रोऽप्यनुग्र एवायं स्वभक्तानां नृकेशरी।
 केशरीव स्वपोतानामन्येषामुग्रविक्रमः ॥६॥

यहाँ श्रीभगवान्की करुणाका वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए श्रीमन्महाप्रभुने श्रीधरस्वामीकृत एक और श्लोकसे श्रीनृसिंहदेवकी स्तुति की है। सिंह जिस प्रकार दूसरोंके प्रति अत्यन्त क्रूर, विक्रमशाली तथा अति भयानक होनेपर भी अपनी सन्तानके प्रति अनुग्रहशील एवं स्नेहशील रहता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीनृसिंह हिरण्यकशिपु आदि असुरोंके प्रति उग्र होते हुए भी प्रह्लाद आदि अपने भक्तोंके प्रति स्नेहपरायण रहते हैं ॥६॥

एइमत नाना श्लोक पड़ि' स्तुति कैल।
नृसिंह-सेवक माला-प्रसाद अनि' दिल ॥७॥

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभुने अनेक श्लोकों द्वारा श्रीनृसिंह भगवान्की स्तव-स्तुति की। श्रीनृसिंहदेवके सेवकने श्रीमन्महाप्रभुका भाव देखकर उसी समय उनको प्रसाद और माला लाकर दी ॥७॥

पूर्ववत् कोन विप्रे कैल निमन्त्रण।
सेइ रात्रि ताँहा रहि' करिला गमन ॥८॥

पूर्वकी ही भाँति किसी ब्राह्मणने आकर महाप्रभुको निमन्त्रण किया। उस रात्रि प्रभु वहीं रहे। प्रातःकाल होनेपर आगेकी ओर यात्रा करनेके लिए प्रस्थान किया ॥८॥

प्रभाते उठिया प्रभु चलिला प्रेमावेशे।
दिग्विदिक् नाहि ज्ञान रात्रि-दिवसे ॥९॥

प्रभात होते ही श्रीमन्महाप्रभु उठे तथा उसी प्रेमावेशमें आगे चलने लगे। प्रेमावेशमें उन्हें न तो दिशा-विदिशाका ज्ञान रहता और न ही दिन-रातका ॥९॥

पूर्ववत् 'वैष्णव' करि' सर्व लोकगणे।
गोदावरी-तीरे प्रभु आइला कतदिने ॥१०॥

पहलेकी भाँति श्रीमन् चैतन्यदेव समस्त जीवोंको वैष्णव बनाते हुए कुछ दिनों बाद गोदावरीके तटपर पहुँचे ॥१०॥

गोदावरी देखि' हइल 'यमुना'-स्मरण।
तीरे वन देखि' स्मृति हैल वृन्दावन ॥११॥

श्रीमन्महाप्रभुने जैसे ही गोदावरीका दर्शन किया, उन्हें श्रीयमुनाजीका स्मरण हो गया। यमुनाकी स्फूर्तिके आवेशमें जब उस गोदावरीके तटपर स्थित अरण्य-सम्पदका दर्शन किया, तो उनके हृदय-पटलपर श्रीवृन्दावनकी स्फूर्ति हो आई। उन्होंने गोदावरीको यमुना और वहाँके वनको वृन्दावन समझा। महाभागवतजनोंका यही लक्षण है कि जहाँ

जहाँ वे दृष्टिपात करते हैं, वहाँ-वहाँकी वस्तुएँ उद्दीपनके रूपमें उन्हें अपने इष्टदेव तथा तदीय वस्तुओंकी स्फूर्ति करा देती हैं, उनका हृदय विभावित होने लगता है। अति पावन गोदावरीके जलको देखते ही व्रजकी केलि-किलोल-लीलाएँ उनके मानसमें उद्दीप्त होने लगतीं। विशेष रूपसे लीलाचक्रवर्ती रासलीलाका उन्हें स्फुरण होने लगा; क्योंकि श्रीधामवृन्दावनमें वह लीला यमुना-तीरपर ही सम्पन्न हुई थी। यहाँ वे व्रज-माधुर्यके अगाध-समुद्रमें सराबोर होने लगे ॥११॥

सेइ वने कतक्षण करि' नृत्य-गान।

गोदावरी पार हजा ताँहा कैल स्नान ॥१२॥

महाप्रभुजी उस पुनीत वनमें कुछ समयतक नृत्य-गान करते रहे। अनन्तर गोदावरी नदीको पार करके उसपारके तटपर स्नान किया ॥१२॥

घाट छाड़ि कतदूरे जल-सन्निधाने।

वसि' प्रभु करे कृष्णनाम-संकीर्तने ॥१३॥

स्नान करनेके पश्चात् श्रीचैतन्यदेव घाट छोड़कर जलके सान्निध्यमें ही थोड़ी दूरपर बैठकर नामसंकीर्तन करने लगे। यदि कहें, महाप्रभुने उस पावन घाटपर ही बैठकर नामसंकीर्तन क्यों नहीं किया, घाटको क्यों छोड़कर कुछ दूर तटपर ही क्यों नहीं बैठे? उत्तरमें गोस्वामीपाद कहते हैं कि घाटपर स्नानार्थियोंका आवागमन होनेके कारण घाट जन-संकुलित हो रहा था, इससे संकीर्तन-रसास्वादनमें बाधा उत्पन्न हो सकती थी। अतः कीर्तनोचित-स्थानका चयन किया ॥१३॥

हेनकाले दोलाय चड़ि' रामानन्द राय।

स्नान करिवारे आइला, बाजना बाजाय ॥१४॥

उसी समय श्रीरामानन्द राय दोला अर्थात् राजोचित विशिष्ट पालकीपर बैठकर स्नान करनेके लिए आए। साथमें बाजे बज रहे थे। बाजे बजनेका कारण क्या था? श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि बाजना एक विशेष वाद्य है। उस समयकी प्रथा थी कि जब कोई सुप्रतिष्ठित राज-अधिकारी कहीं जाया करते थे, तो

आगे-आगे बाजे बजते हुए जाते थे। इसी रीतिका निर्वाह करते हुए राजोचित मर्यादाके साथ रायजी पालकीपर चढ़कर बाजोंके साथ जा रहे थे॥१४॥

तार सङ्गे बहु आइला वैदिक ब्राह्मण।

विधिमते कैल तेंहो स्नानादि-तर्पण॥१५॥

श्रीराय रामनन्दजीके साथ अनेक वैदिक ब्राह्मण भी आए थे। उन्होंने (श्रीरामानन्द रायने) वहाँ विधिपूर्वक स्नान-तर्पण किया।

प्रस्तुत पयारमें विधिमतका अर्थ स्मार्त मतानुसार वर्णाश्रमधर्मका निर्वाह नहीं, अपितु श्रीहरिभक्तिविलास-सम्मत वैष्णव-मतानुसार विधिवत् स्नान-तर्पणसे है। कुछ अभिज्ञजनोंका कहना है कि राय रामानन्दजी स्वयं वेदज्ञ थे। वे शुद्धभक्त होनेपर भी श्रद्धापूर्वक वर्णाश्रमधर्मका पालन करते थे। वस्तुतः वे वर्णाश्रमधर्मकी भित्तिस्वरूप ही थे। अतः उन्होंने शास्त्र-विधिके अनुसार स्नान, तर्पण आदि कार्य किए। किन्तु महामहोपाध्याय श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि रामानन्द शुद्धभक्त हैं और शुद्धभक्तके लिए वर्णाश्रमधर्मका पालन आवश्यक नहीं है। शुद्धभक्तका तात्पर्य ही यह है कि वे वर्णाश्रमधर्मका त्यागकर केवल श्रीकृष्णभक्तिका ही आचरण करते हैं। इसीलिए वे सर्वश्रेष्ठ भक्त कहे जाते हैं। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रामानन्द राय वर्णाश्रमधर्मके पक्षपाती नहीं थे॥१५॥

प्रभु तारै देखि' जानिल—एइ रामराय।

ताँहारे मिलिते प्रभुर मन उठि' धाय॥१६॥

जब महाप्रभुजीने उन्हें देखा तो देखते ही समझ गए—“ये ही राय रामानन्द हैं।” उनसे मिलनेके लिए उनका मन अति उत्कण्ठित हो उठा॥१६॥

तथापि धैर्य धरि' प्रभु रहिला वसिया।

रामानन्द आइला अपूर्व संन्यासी देखिया॥१७॥

तथापि मिलनेकी उत्कण्ठा होनेपर भी महाप्रभु धैर्य धारण करके वहीं बैठे रहे। दूसरी ओर श्रीरामानन्द राय स्वयं घाटसे कुछ दूर एक

अद्भुत तथा विलक्षण सुन्दर संन्यासीको देखकर उनके निकट आए ॥१७॥

सूर्यशत-सम कान्ति, अरुण वसन।
सुवलित प्रकाण्ड देह, कमल-लोचन ॥१८॥

उस संन्यासीकी अङ्गकान्ति कोटि सूर्योंके समान देदीप्यमान थी। उन्होंने अरुण (भगवा) वस्त्र धारण कर रखा था। सुगठित और विशाल शरीर था। नेत्र कमल-सरीखे थे। ज्ञातव्य है कि उसकी करोड़ों सूर्यके समान अङ्गप्रभा नेत्रोंको कष्ट देनेवाली नहीं, प्रत्युत आह्लाददायिनी थी ॥१८॥

देखिया ताँहार मने हैल चमत्कार।
आसिया करिल दण्डवत् नमस्कार ॥१९॥

राय रामानन्दजीके हृदयमें उस अपूर्व संन्यासीको देखकर बड़ा ही चमत्कार हुआ और उन्होंने समीपमें आकर उनको दण्डवत्प्रणाम किया। प्रभुके अलौकिक तेज-पुंज, रूप-वैशिष्ट्य तथा देह-यष्टिको देखकर रामानन्दजी विस्मित हो गए। शुद्धभक्त होनेके कारण श्रीचरणोंमें गिरकर उन्हें दण्डवत्प्रणाम किया ॥१९॥

उठि' प्रभु कहे,—उठ, कह 'कृष्ण' 'कृष्ण'।
तारे आलिङ्गिते प्रभुर हृदय सतृष्ण ॥२०॥

उनको प्रणाम करते देख श्रीमन्महाप्रभु उठ खड़े हुए और कहने लगे—उठिए, उठिए, कृष्ण-कृष्ण कहिए। श्रीमन्महाप्रभुका हृदय उनका आलिङ्गन करनेके लिए अत्यधिक ललक रहा था ॥२०॥

तथापि पूछिल,—“तुमि राय रामानन्द?”
तेंहो कहे,—“हड मुजि दास शूद्र मन्द ॥” २१ ॥

यद्यपि महाप्रभुने रामानन्दजीको पहचान लिया था, फिर भी पूछा “क्या आप राय रामानन्द हैं?” इसपर श्रीराय रामानन्दने अति दैन्यके साथ उत्तर दिया कि हाँ, यही दुर्भागा शूद्र आपका दास है ॥२१॥

तवे तारै कैल प्रभु दृढ़ आलिङ्गन।
प्रेमावेशे प्रभु-भृत्य दोहे अचेतन ॥२२॥

ऐसा सुनते ही श्रीमन्महाप्रभुने राय रामानन्दजीका दृढ़तापूर्वक आलिङ्गन किया। दोनों ही अर्थात् स्वामी तथा सेवक प्रेमावेशमें अपनी सुध-बुध खो बैठे ॥२२॥

स्वाभाविक प्रेम दोहार उदय करिला।
दुँहाके आलिङ्गिया दुँहे भूमिते पड़िला ॥२३॥

दोनोंके हृदयमें स्वाभाविक प्रेम उदित हो गया। दोनों ही आलिङ्गनावस्थामें अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े।

श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर अपने अमृतप्रवाह भाष्यमें कहते हैं कि दोनोंके मध्य जो प्रेम था, वह स्वाभाविक था। वस्तुतः रामानन्द राय कृष्णलीलाकी विशाखा सखी हैं और महाप्रभु श्रीराधाकृष्णके मिलित-तनु हैं। अतः श्रीराधाकृष्णका सखी विशाखाके प्रति और विशाखाका श्रीराधाकृष्णके प्रति जो स्वाभाविक प्रेम है, वह एक दूसरेको देखते ही उमड़ पड़ा। स्वभाव-सिद्ध प्रेम साधन द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता। भक्त-भगवान्का सम्बन्ध ही कुछ ऐसा है कि जब भक्त अपने आराध्य भगवान्का दर्शन करता है तो उसके हृदयमें प्रेमकी अपार तरङ्गें उच्छ्वलित होने लगती हैं और भगवान् जब अपने भक्तको देखते हैं, तो भक्तवात्सल्यका अगाध सागर उनके हृदयमें हिलोरें लेने लगता है। वे मुग्ध हो जाते हैं ॥२३॥

स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, कम्प, पुलक, वैवर्ण्य।
दुँहार मुखते शुनि' गद गद 'कृष्ण' वर्ण ॥२४॥

आलिङ्गन करनेपर दोनोंके ही श्रीअङ्गोंमें स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, कम्प, पुलक एवं वैवर्ण्य इत्यादि अष्ट सात्त्विक प्रेम-विकार उदित होने लगे। दोनोंकी ही वाणी गद्गद हो गई, दोनों ही कृष्ण-कृष्ण उच्चारण करने लगे। दोनोंमें स्वभाव-सिद्ध नित्यप्रेम था, वह छिपानेपर भी छिप नहीं सका। प्रेमकी उत्ताल तरङ्गोंमें वे विवश हो गये, कण्ठ अवरुद्ध हो गया ॥२४॥

देखिया ब्राह्मणगणेर हैल चमत्कार।

वैदिक ब्राह्मण सब करेन विचार ॥२५॥

रामानन्द रायके साथ आए हुए वैदिक ब्राह्मण उनके इस अद्भुत मिलनको देखकर चमत्कृत हो उठे और मनमें सोच-विचार करने लगे ॥२५॥

‘एइ त’ संन्यासीर तेज देखि’ ब्रह्मसम।

शूद्रे आलिङ्गिया केने करेन क्रन्दन ॥२६॥

एइ महाराज—महापण्डित, गम्भीर।

संन्यासीर स्पर्श मत्त हइला अस्थिर ॥२७॥

इस संन्यासीका तेज तो ब्रह्मके समान है, फिर भी वह इस शूद्र रामानन्द रायका आलिङ्गन करके क्रन्दन क्यों कर रहा है?

वैदिक ब्राह्मण यह विचार कर रहे थे कि रामानन्द राय तो शूद्र हैं। संन्यासियोंके लिए शूद्रोंको स्पर्श करना निषिद्ध है। यह संन्यासी अत्यन्त तेजस्वी होकर भी शूद्र रामानन्दको स्पर्श ही नहीं, आलिङ्गन-पाशमें आबद्ध कर रहा है? रामानन्दजीने भी स्वयंको शूद्र कहकर ही प्रणाम किया है। वे विद्यानगरमें राजा प्रतापरुद्रके राजप्रतिनिधि थे। वे समस्त राजभोगोंका उपभोग करते थे। राजसेवी होनेके कारण उनकी वृत्ति तथा प्रवृत्ति भी अधर्मपरायण होनी चाहिए, इनकी वेश-भूषा भी राज-सेवकोंकी है। अतः संन्यासियोंके लिए इनका स्पर्श करना उचित नहीं है। परन्तु वास्तवमें राय रामानन्द क्षत्रिय वंशसे सम्बन्धित थे, परम शुद्धभक्त थे। उनके द्वारा स्वयंको शूद्र कहा जाना ‘तृणादपि सुनीच’ की भावना प्रकट करता है। रामानन्दजी तो परमभागवत एवं भक्तितत्त्ववेत्ता हैं। महाप्रभुजीके भी वास्तविक स्वरूपको न समझनेके कारण उन ब्राह्मणोंने उनको संन्यासी ही मान लिया और वे यह भी विचार कर रहे हैं कि राय रामानन्द भी स्वभावतः बड़े गम्भीर हैं, परमोच्चकोटिके विद्वान हैं, फिर भी वे इस संन्यासीका स्पर्शकर उन्मत्तकी भाँति चञ्चल क्यों हो गए? यही वैदिक-ब्राह्मणोंके विस्मयका कारण था ॥२६-२७॥

एइमत विप्रगण भावे मने मन।

विजातीय लोक देखि' प्रभु कैल सम्बरण ॥२८॥

श्रीमन्महाप्रभु अन्तर्यामी हैं। उन्होंने उन ब्राह्मणोंके शुद्धभक्तिके विरोधी विजातीय विचारको जान लिया। अतः अपने भावोंका सम्बरण कर लिया।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद कहते हैं कि ये ब्राह्मण श्रीमन्महाप्रभुके विजातीय थे, किन्तु राय रामानन्द सजातीय आशय-विशिष्ट अन्तरङ्ग भक्त थे। शुद्धभक्तके सान्निध्यमें भी वे ब्राह्मण कर्मनिष्ठ कर्मकाण्डी ही बने रहे। इसलिए इन ब्राह्मणोंको अभक्त तथा विजातीय कहा है। कर्मनिष्ठ बहिर्मुख जीवोंके सम्मुख परस्पर प्रीतिरूप अपने भावोंका गोपन करना ही उचित है ॥२८॥

सुस्थ हजा दुँहे सेइ स्थानेते वसिला।

तवे हासि' महाप्रभु कहिते लागिला ॥२९॥

तत्पश्चात् दोनों अपने-अपने भावोंका सम्बरणकर अपनी बाह्यावस्थामें आकर सुस्थिर हो उसी स्थानपर बैठ गए। तब महाप्रभु हँसते हुए कहने लगे—(भक्तोंका आनन्दोल्लास कभी अप्रतिहत नहीं हो सकता) ॥२९॥

“सार्वभौम भट्टाचार्य कहिल तोमार गुणे।

तोमारे मिलिते मोरे करिल यतने ॥३०॥

राय! जब मैं इधर आ रहा था, तब सार्वभौम भट्टाचार्यने आपके गुणोंका मुझसे बड़ा ही बखान किया और आपसे मिलनेके लिए मुझे आग्रह भी किया था ॥३०॥

तोमा मिलिवारे मोर एथा आगमन।

भाल हैल, अनायासे पाइलुँ दरशन ॥” ३१ ॥

मैं आपसे मिलनेके लिए ही यहाँ आया हूँ। बहुत अच्छा हुआ, जो अनायास ही आपका दर्शन प्राप्त हो गया ॥३१॥

राय कहे,—“सार्वभौम करे भृत्य-ज्ञान।

परोक्षेह मोर हिते हय सावधान ॥३२॥

राय रामानन्दजीने कहा कि सार्वभौम भट्टाचार्य प्रत्यक्ष रूपसे मुझे अपना दास मानते हैं और परोक्ष रूपसे सदैव मेरे हितके लिए ही सजग रहते हैं ॥३२॥

ताँर कृपाय पाइनु तोमार दरशन।

आजि सफल हैल मोर मनुष्यजनम ॥३३॥

उनकी कृपासे ही आज मैंने आपके श्रीचरणोंका दर्शन पाया है। आपका दर्शनकर आज मेरा मनुष्य-जन्म सार्थक हो गया।

मनुष्य-जन्म सुदुर्लभ है। भगवान्की विशेष कृपासे ही मनुष्य-जन्म प्राप्त किया जा सकता है। इस जन्मके अतिरिक्त किसी भी जन्ममें यहाँ तक कि देवयोनिमें भी भगवान्का भजन करना सम्भव नहीं है। नरतनु भजनका मूल है। केवल मनुष्य शरीरसे ही साधुसङ्गमें हरिकथा श्रवण, श्रीगुरुपदाश्रय, भजनके अङ्गोंका पालन, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदि सम्भव है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

(श्रीमद्भा. ११/२०/१७)

इसीलिए रामानन्द राय भी श्रामन्महाप्रभुके श्रीचरणोंका दर्शनकर अपने मनुष्य-जीवनको सफल मान रहे हैं ॥३३॥

सार्वभौमे तोमार कृपा,—तार एइ चिह।

अस्पृश्य स्पर्शिले हजा ताँर प्रेमाधीन ॥३४॥

राय रामानन्द आगे कहने लगे कि श्रीसार्वभौमपर आपकी महान कृपा है, जिसका प्रमाण यह है कि आपने उनके प्रेमके अधीन होकर मुझ जैसे अस्पृश्यको भी स्पर्श किया ॥३४॥

काँहा तुमि—साक्षात् ईश्वर नारायण।

काँहा मुजि—राजसेवक विषयी शूद्राधम ॥३५॥

कहाँ तो आप साक्षात् ईश्वर नारायण हैं और कहाँ मैं राजसी वस्तुओंका उपभोगी, विषयोंका सेवन करनेवाला अधम शूद्र। मुझ जैसे लोगोंका तो दर्शन भी आप जैसे संन्यासियोंके लिए निषिद्ध है ॥३५॥

मोर स्पर्श ना करिले घृणा, वेदभय।

मोर दर्शन तोमा वेदे निषेधय ॥३६॥

मेरा दर्शन आपके लिए वेदोंमें निषिद्ध कहा गया है, परन्तु आपने तो निषिद्धताका विचार ही नहीं किया और मुझे स्पर्श करनेमें घृणाका भी अनुभव नहीं किया।

श्रील प्रभुपाद कहते हैं कि प्रस्तुत प्यारमें श्रीलराय रामानन्द स्वयंको अति-दीन समझकर विषयी शूद्राधम कह रहे हैं। यह ठीक है कि वे विप्रकुलमें जन्मे नहीं थे, पर वैदिक-एकायन-शाखास्थित अप्राकृत दैक्ष्य ब्राह्मण थे, निष्किञ्चन शुद्ध भागवत परमहंस थे। जब कि महाकुलमें प्रसूत, सर्वयज्ञमें दीक्षित सहस्र वैदिक शाखाध्यायी व्यक्ति रायजीको शूद्र जातिका समझते हैं, जिससे उनके नरकगामी होनेकी पूरी सम्भावना है, जैसा कि पद्मपुराणमें कहा गया है, “वीक्ष्यते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम्।” जो परमार्थ लिप्सु हैं, उनका तो चिरकल्याण राय रामानन्दजीका दासानुदास बननेमें ही है ॥३६॥

तोमार कृपाय तोमाय कराय निन्द्यकर्म।

साक्षात् ईश्वर तुमि, के जाने तोमार मर्म ॥३७॥

आपकी कृपा ही आपसे निन्दनीय (विगर्हित) कार्य करा देती है। आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, किन्तु भक्तिके वश हैं, आपके मर्मको भला कौन जान सकता है?

श्रील प्रभुपाद कहते हैं कि संन्यासियोंके द्वारा विषयी दर्शन और शूद्रसङ्ग अविधेय है, तथापि अपनी कृपाके अधीन होकर उन्होंने शूद्रत्वका विचार न कर राय रामानन्दका स्पर्शकर निन्दनीय कार्य

किया। प्रेमके वशीभूत होकर भगवान् द्वारा निन्दनीय कार्य की तो एक परम्परा रही है—अर्जुनका सारथि बनना, शबरीके उच्छिष्ट (जूठे) बेर खाना, कुब्जा-सङ्ग करना इत्यादि॥३७॥

आमा निस्तारिते तोमार इँहा आगमन।

परम दयालु तुमि पतित-पावन॥३८॥

मेरे उद्धारके लिए ही आपका यहाँ आगमन हुआ है। आप परम दया-निधान एवं पतितोंको पवित्र करनेवाले हैं॥३८॥

महान्त-स्वभाव एइ तारिते पामर।

निज कार्य नाहि तबु जान तार घर॥३९॥

आप अपने महान स्वभावसे पतित-पामरोंका उद्धार करते ही रहते हैं। आपका अपना कोई कार्य नहीं है—स्वार्थ नहीं है, फिर भी जीव-कल्याणके लिए आप घर-घर फिरते हैं। जीवोंका निस्तार करना ही आपके जीवनका प्रयोजन है॥३९॥

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।

निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥४०॥

(श्रीमद्भा. १०/८/४)

हे भगवन्! दीन-हीन, साधुसङ्ग-विहीन गृहस्थोंके नित्य मङ्गलके लिए ही महत्पुरुषोंका इनके घरोंमें आगमन होता है; क्योंकि वे गृहस्थोंके प्रपञ्चोंमें इतने उलझे हुए रहते हैं कि वे उनके आश्रमों तक जा नहीं पाते। अतः मेरे कल्याणके अतिरिक्त आपके आनेका और क्या हेतु हो सकता है?

श्रीवसुदेवजीके आग्रहपर जब गार्गाचार्यजी नन्दगाँवमें नन्दरायजीके पास पहुँचे, तब श्रीनन्दरायजीने उपर्युक्त वचन कहे थे। प्रस्तुत श्लोकमें गृहिणां एवं दीनचेतसां ये दो शब्द श्रीनन्दरायजीकी दीनताको सूचित करते हैं। नन्दबाबाने भी भक्तिके प्रभावसे स्वयंको तृणादपि सुनीच समझा। ये सन्त देवताओंपर अनुग्रह नहीं किया करते, बल्कि हम जैसे गृहस्थोंपर ही अनुकम्पा-वर्षण करते हैं। हमारी रक्षाकर हमारे

वास्तविक अभिभावक होते हैं। प्रस्तुत श्लोकमें 'महत्' पदकी टीका करते हुए श्रीसनातन गोस्वामीपाद कहते हैं—“महतां श्रीभगवत्-सेवैकनिष्ठानां”—अर्थात् श्रीभगवान्की सेवामें तत्पर लोगोंको ही 'महत्' कहा गया है। तब क्या श्रीमन्महाप्रभु भी महान्त-स्वभाववाले साधु महात्मा हैं? नहीं, वे तो स्वयं अवतारी हैं। साक्षात् नारायण हैं॥४०॥

आमार सङ्गे ब्राह्मणादि सहस्रेक जन।

तोमार दर्शने सबार द्रवीभूत मन॥४१॥

रायजी आगे कहने लगे—मेरे साथ असंख्य ब्राह्मणादि हैं—देखिए, आपका दर्शन करते ही सभीका मन द्रवीभूत हो गया॥४१॥

‘कृष्ण’ ‘हरि’ नाम शुनि सवार वदने।

सवार अङ्ग—पुलकित, अश्रु—नयने॥४२॥

यह देखिए! सभीके मुखसे “कृष्ण कृष्ण” नामकी सुमधुर ध्वनि सुनाई दे रही है। सभीके अङ्ग पुलकित हो रहे हैं और नयनोंसे अश्रुधारा प्रवाहित रही हैं॥४२॥

आकृत्ये—प्रकृत्ये तोमार ईश्वर—लक्षण।

जीवे ना सम्भवे एइ अप्राकृत गुण॥”४३॥

आपकी आकृति एवं स्वभावमें ईश्वरके ही लक्षण दिखाई दे रहे हैं। ये अप्राकृत गुण भला जीवोंमें कहाँ सम्भव हैं? अप्राकृत अर्थात् श्रीकृष्ण विषयक गुण॥४३॥

प्रभु कहे,—“तुमि महा—भागवतोत्तम।

तोमार दर्शने सवार द्रव हैल मन॥४४॥

यह सुनकर श्रीमन्महाप्रभु बोले—हे रामानन्द! तुम महाभागवतोंमें भी श्रेष्ठ हो। मेरे नहीं, तुम्हारे ही दर्शनसे इन सबका मन द्रवीभूत हुआ है।

श्रील प्रभुपाद पद्मपुराणसे महाभागवतका लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि—

तापादिपञ्चसंस्कारी नवेज्याकर्मकारकः ।

अर्थपञ्चकविद् विप्रो महाभागवतः स्मृतः ॥

अर्थात् तापादि पञ्चसंस्कारविशिष्ट, अर्चन, मन्त्रपाठ, योग, याग, वन्दन, नामसंकीर्तन, सेवाचिह्न द्वारा अर्चन और वैष्णवाराधन करनेवाले एवं अर्थपञ्चकबोधयुक्त ब्राह्मण ही महाभागवत हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें उत्तम भक्तका लक्षण बतलाते हुए स्वयं भगवान्ने कहा है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।

भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

(श्रीमद्भा. ११/२/४५)

मेरे भक्तजन सभी प्राणियोंमें आत्मस्वरूप मुझे और समस्त प्राणियोंको मुझमें ही अनन्य भावसे दर्शन करते हैं। इसलिए वे सब प्राणियोंमें मदात्मिका दृष्टिपूर्वक सभी प्राणियोंके प्रति दया करते हैं ॥४४॥

अन्येर कि कथा, आमि—‘मायावादी संन्यासी’।

आमिह तोमार स्पर्श कृष्ण-प्रेमे भासि ॥४५॥

दूसरेकी बात ही क्या, मैं, मायावादी संन्यासी होकर भी तुम्हारे स्पर्शसे कृष्णप्रेममें डूब गया।

श्रीमन्महाप्रभु अपने तुच्छत्व एवं हेयत्वको प्रकट करनेके लिए ही स्वयंको मायावादी संन्यासी कह रहे हैं। सर्वविदित है कि उन्होंने श्रील ईश्वरपुरीपादजीसे दशाक्षर गोपाल मन्त्रकी दीक्षा ली थी। संन्यास लेनेसे पूर्व श्रीमन्महाप्रभुने श्रील केशव भारतीके कानोंमें छलपूर्वक वैष्णव मन्त्र देकर दीक्षित किया और उन्हें परम भागवत बनानेके अनन्तर उन्हींसे मन्त्रोंको सुनकर अपनी प्रकटलीलाकी रीति निभाई। मायावादी संन्यासीका अर्थ है, भक्ति विरोधी—अद्वैतवादका अनुयायी होना। किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रकटलीलामें भी मायावादी संन्यासी नहीं हैं ॥४५॥

एइ जानि कठिन मोर हृदय शोधिते।
सार्वभौम कहिलेन तोमारे मिलिते ॥” ४६ ॥

मेरा कठिन (शुष्क, नीरस) हृदय पवित्र करनेके लिए ही सार्वभौमने मुझे आपसे मिलनेके लिए कहा था ॥४६॥

एइमत दुँहे स्तुति करे दुँहार गुणे।
दुँहे दुँहार दरशने आनन्दित मने ॥४७॥

इस प्रकार दोनों भक्त और भगवान् एक-दूसरेके गुणोंकी स्तुति करने लगे तथा एक दूसरेको देखकर अत्यधिक आनन्दमें निमग्न होने लगे ॥४७॥

हेनकाले वैदिक एक वैष्णव ब्राह्मण।
दण्डवत् करि' कैल प्रभुरे निमन्त्रण ॥४८॥

इसी समय एक वैदिक ब्राह्मण, जो वैष्णव था, वहाँ उपस्थित हुआ। उसने श्रीमन्महाप्रभुको दण्डवत्प्रणामकर उन्हें प्रसादके लिए निमन्त्रण किया ॥४८॥

निमन्त्रण मानिल तौरै वैष्णव जानिया।
रामानन्दे कहे प्रभु ईषत् हासिया ॥४९॥

उस ब्राह्मणको वैष्णव जानकर महाप्रभुने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और मुस्कराते हुए रामानन्दजीसे कहने लगे ॥४९॥

“तोमार मुखे कृष्णकथा शुनिते हय मन।
पुनरपि पाइ येन तोमार दरशन ॥” ५० ॥

श्रीरायजी! आपके श्रीमुखसे मुझे श्रीकृष्णकथा श्रवण करनेकी अत्यन्त उत्कण्ठा हो रही है। मैं आपका पुनः दर्शन करना चाहता हूँ ॥५०॥

राय कहे,—“आइला यदि पामर शोधिते।
दर्शनमात्रे शुद्ध नहे मोर दुष्ट चित्ते ॥५१॥

श्रीमन्महाप्रभुके इन वचनोंको सुनकर राय रामानन्दने कहा—यदि आप मुझ पामरके चित्तका शोधन करनेके लिए आए हैं, तो मेरा यह विकृत-कलुषित चित्त दर्शनमात्रसे शुद्ध नहीं हो सकता ॥५१॥

दिन पाँच-सात रहि' करह मार्जन।

तबे शुद्ध हय मोर एइ दुष्ट मन ॥”५२॥

हे देव! आप कम-से-कम पाँच-सात दिन यहाँ रहकर इस कलुषित चित्तका शोधन कीजिए, तब कहीं जाकर इस विमूढ़के अन्तःकरणका परिमार्जन हो सकेगा ॥५२॥

यद्यपि विच्छेद दोंहार सहन न जाय।

तथापि दण्डवत् करि' चलिला रामराय ॥५३॥

यद्यपि दोनोंको एक दूसरेका विच्छेद असहनीय हो रहा था, तथापि (महाप्रभुकी आज्ञासे ही) श्रीरामानन्दने श्रीमन्महाप्रभुको दण्डवत्-प्रणाम किया और अपने राजभवनके लिए प्रस्थान किया ॥५३॥

प्रभु जाई' सेइ विप्रघरे भिक्षा कैल।

दुई जनार उत्कण्ठाय आसि' सन्ध्या हैल ॥५४॥

श्रीमन्महाप्रभु उक्त विप्रके घर पधारे और वहाँ भिक्षा ग्रहण की अर्थात् वहीं प्रसाद सेवन किया। इधर भक्त और भगवान् दोनोंके अन्तःकरणमें एक दूसरेसे मिलनेकी अत्युत्कण्ठा हो रही थी, तभी सन्ध्याका समय उपस्थित हुआ ॥५४॥

प्रभु स्नान-कृत्य करि' आछेन वसिया।

एकभृत्य-सङ्गे राय मिलिला आसिया ॥५५॥

श्रीमन्महाप्रभु जब स्नान और सन्ध्या करनेके पश्चात् आसनपर बैठकर हरिनाम कर रहे थे और श्रीरामानन्द रायकी प्रतीक्षा कर रहे थे, तभी साधारण वेशमें राय रामानन्द एक सेवकके साथ उनसे मिलनेके लिए पधारे।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं संन्यासी प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्या तीनों समय स्नान और सन्ध्याकालिक मन्त्रोंका जप करते हैं।

अतः इस श्रुतिकी रीतिको निभाते हुए सन्ध्या कालमें श्रीशचीनन्दन स्नान और आह्निक करके बैठे हुए हरिनाम कर रहे थे॥५५॥

नमस्कार कैल राय, प्रभु कैल आलिङ्गने।

दुई जने कृष्ण-कथा कय सेइस्थाने॥५६॥

श्रीराय रामानन्दजीने आते ही महाप्रभुको दण्डवत्प्रणाम किया और महाप्रभुजीने उठकर बड़े प्रेमसे उनका आलिङ्गन किया। इसके बाद दोनों एक निर्जन स्थानपर बैठकर परस्पर कृष्णकथा कहने सुनने लगे॥५६॥

प्रभु कहे,—“पड़ श्लोक साध्येर निर्णय।”

राय कहे,—“स्वधर्माचरणे विष्णुभक्ति हय॥”५७॥

श्रीमन्महाप्रभुने प्रारम्भमें कहा—राय! जीवोंके लिए साध्य और साधन क्या है? शास्त्रोंके श्लोकोंको उद्धृतकर सप्रमाण बतलाइए। उनकी आज्ञा पाकर रामानन्दजीने कहा—स्वधर्माचरण करते हुए विष्णुभक्ति करना ही साध्यका निर्णय है॥५७॥

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् ततोषकारणम्॥५८॥

(विष्णुपुराण ३/८/९)

परमेश्वर विष्णु वर्णधर्म और आश्रमधर्मका पालन करनेवाले पुरुषोंके द्वारा आराधित होते हैं। वर्णाश्रमका पालन किए बिना उनको सन्तुष्ट करनेका और कोई उपाय नहीं है।

‘विष्णुभक्ति’—श्रील सरस्वती प्रभुपाद कहते हैं—मानवमात्रके लिए भक्ति ही निरतिशय प्रिय एवं प्रयोजनीय है। इसके अतिरिक्त सभी कुछ अनपेक्षित एवं वितृष्णामय है। भक्तियुक्त आत्माके द्वारा ही श्रीभगवान् वरणीय हैं। निरन्तर समृद्धिविशिष्ट ज्ञानमय, कर्मानुगृहीत भक्तियोग ही धीरे-धीरे परम-भक्तिरूप ज्ञान-विशेषको उद्भूत करता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—“स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः” (श्रीगी. १८/४६)। मानव अपने-अपने

कर्मानुष्ठानमें निरत रहकर सिद्धि लाभ करते हैं। समस्त प्राणी भगवान्से उत्पन्न होते हैं और भगवान्से ही इस जगतका विस्तार होता है। इतना ज्ञान होनेपर ही मानव भगवान्के प्रति उन्मुख होता है। इस विशुद्ध भक्तिपथका परम्परा क्रमसे भगवान् बोधायन, टंक, द्रमिड़, गुह्यदेव, कपर्दि और भारुचि अनुमोदन करते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—“भक्तियोगे भगवति तन्नामग्रहणादिभिः।” यहाँ ‘भक्तियोग’ कहनेसे भी अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति हो सकती थी, किन्तु ‘भगवति’ पद भी प्रयुक्त हुआ है। इसका विशेष तात्पर्य यह है—जब नामग्रहण-स्मरण आदि भक्तिके सभी अङ्ग एकमात्र भगवत्-प्रीतिके लिए ही अनुष्ठित होते हैं, तब उसे भक्तियोग कहते हैं—यही भक्तियोग प्रेमभक्ति देनेमें सक्षम है। भगवत्-प्रीति विधानके अतिरिक्त जो श्रवण-कीर्तनादि भक्ति-अङ्गसमूह अन्यान्य उद्देश्यसे अनुष्ठित होते हैं, उन्हें ‘भक्तियोग’ संज्ञासे अभिहित नहीं किया जा सकता है। उनसे प्रेमफल-प्राप्तिकी कदापि सम्भावना ही नहीं है। प्रेमकी प्राप्तिके पश्चात् ही स्नेह-मान-प्रणयादिकी अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। श्रीमद्भागवत, नारदपञ्चरात्रादि भक्तिशास्त्रोंमें ‘भक्ति’ शब्दका उल्लेख भगवद्भक्तिके लिए ही हुआ है। अतः स्पष्ट होता है कि ‘भक्ति’ शब्द केवल ‘विष्णुतत्त्व’ में ही सुस्थापित है, अन्यत्र कदापि नहीं। करणीय-अकरणीयका बोध शास्त्र द्वारा ही निर्णीत हो सकता है। अतः श्रीमन्महाप्रभुने श्रीराय रामानन्दसे शास्त्र प्रमाणित वचन कहनेके लिए कहा। साध्यका अर्थ है ‘अभीष्ट वस्तु’। वस्तुतः जीवका स्वरूपानुबन्धी कर्तव्य साधन—श्रीकृष्णसेवा—सेव्यका प्रीति विधान करना—स्वसुख वासनारहित कृष्णप्रेम ही यथार्थ स्वरूपगत साध्य है।

स्वधर्माचरण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—चार वर्ण और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—चार आश्रमोंके लिए शास्त्र-विहित कर्तव्य-कर्मोंका आचरण करना ही स्वधर्माचरण है। वर्णाश्रमानुरूप कर्तव्य-कर्मोंके आचरणसे विष्णुभक्तिका अधिकार प्राप्त होनेकी सम्भावना हो जाती है। स्वधर्माचरणको साध्यभक्तिका साधन नहीं कहा जा सकता है। अतः सर्वप्रथम शास्त्र द्वारा प्रमाणित विष्णुभक्तिको ही साध्य कहा गया है।

अपने-अपने स्वभावानुसार निर्णीत वर्णधर्म और अवस्थाओंके अनुसार आराधना करनेसे भगवान् विष्णु सन्तुष्ट होते हैं। प्रत्येक वर्णके गुणोंका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार है—

शमो दमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
 ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्॥
 शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा।
 ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम्॥
 देवगुर्वच्युते भक्तिस्त्रिवर्गपरिपोषणम्।
 आस्तिक्यमुद्यमो नित्यं नैपुण्यं वैश्यलक्षणम्॥
 शूद्रस्य सन्नतिः शौचं सेवा स्वामिन्यमायया।
 अमन्त्रयज्ञो ह्यस्तेयं सत्यं गोविप्ररक्षणम्॥

(श्रीमद्भा. ७/११/२१-२४)

अर्थात् शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ज्ञान, दया, भगवत्परायणता और सत्य—ये ब्राह्मणके लक्षण हैं। शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेज, त्याग, जितेन्द्रिय, क्षमा, ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, अनुग्रह और प्रजाकी रक्षा करना—ये क्षत्रियके लक्षण हैं। देवता, गुरु और भगवान्के प्रति भक्ति, अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंकी रक्षा करना, आस्तिकता, उद्योगशीलता और व्यावहारिक निपुणता—ये वैश्यके लक्षण हैं। उच्च वर्णोंके सामने विनम्र रहना, पवित्रता, स्वामीकी निष्कपट सेवा, वैदिक मन्त्रोंसे रहित यज्ञ, चोरी न करना, सत्य तथा गौ-ब्राह्मणोंकी रक्षा करना—ये शूद्रके लक्षण हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—ये चार आश्रम हैं। मनुष्य अपने-अपने आश्रम-विहित धर्मका आचरण करते हुए भगवान्को सन्तुष्ट करे। जावालोपनिषत् (८।५) में कहा गया है—“स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनीभूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद्वा। अथ पुनरब्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।” राजर्षि जनक महर्षि याज्ञवल्क्यसे कहते हैं—भगवन्! संन्यासाधिकार और उसकी

विधि विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें। तब याज्ञवल्क्य कहने लगे—ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थाश्रम ग्रहण करना चाहिए, गृहस्थाश्रम ग्रहण करनेके बाद वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए। वानप्रस्थ आश्रममें कुछ समय बीतनेके बाद संन्यास आश्रम ग्रहण कर लेना चाहिए। यदि इसके विपरीत हो अर्थात् किसीके गृहस्थादि आश्रम ग्रहण करनेके पूर्व ही वैराग्य उदित हो जाए, तो उसे संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए।

इस प्रकार भगवान्‌को प्रसन्न करनेका प्रयास करें। इनमें व्यभिचार होनेपर प्रत्यवाय होता है और नरककी प्राप्ति होती है। परमार्थ पथ सुधारना जीवका सर्वप्रथम कर्तव्य है। स्वभाव, संसर्ग, शिक्षा उनके जीवनपर पर्याप्त प्रभाव डाला करते हैं।

प्रस्तुत 'वर्णाश्रमाचारवता' श्लोकमें श्रीराय रामानन्दजीने यह बतलाया कि जीवका साध्य है—विष्णुकी प्रीति और उसका साधन है—वर्णाश्रमधर्मका पालन ॥५८॥

प्रभु कहे,—“एहो बाह्य, आगे कह आरा।”

राय कहे,—“कृष्णो—कर्मापण—सर्वसाध्य सार॥”५९॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—आपने जो कहा, वह तो बाह्य है, इसके आगे कुछ और कहो! तब राय रामानन्दने कहा—श्रीकृष्णके प्रति समस्त कर्मोंका समर्पण ही साध्यसार है।

बाह्य कहनेसे श्रीमन्महाप्रभुका आशय यह था कि वर्णाश्रमधर्म पालन करनेसे विष्णुकी प्रसन्नता तो होती है और वह भी आंशिक रूपमें ही, किन्तु इसका स्वरूपानुबन्धि और स्वरूपसिद्धाभक्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीकृष्णप्रीतिके उद्देश्यसे अनुष्ठित भक्ति अथवा श्रवण-कीर्तनादि नवधाभक्ति उत्तमा भक्तिमें पर्यवसित होती है। तब भगवत्-कृपासे उत्तमा भक्ति भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति-विशेषके साथ तादात्म्य प्राप्त करती है। अनन्तर साधक सिद्धि लाभकर नित्यलीलामें जब भगवान्‌की सेवा लाभ करता है, तब भी श्रवण, कीर्तनादिका विराम नहीं होता, बल्कि और भी लोभनीय एवं परम आस्वादीय बन जाता है। लोभ एवं आस्वादन भक्त तथा भगवान्‌

दोनोंके ही पक्षमें हैं। भक्त और भगवान् दोनोंको ही आनन्दकी अनुभूति होती है। मुक्त महापुरुष इसीकी आकांक्षा करते हैं। यही उनकी चरमतम काम्य एवं चरमतम साध्य वस्तु है।

यहाँ कर्मसे वे कर्म अभिप्रेत हैं, जो स्मृति आदि शास्त्रमें कथित हैं और जो शारीरिक आधारपर स्वाभाविक धर्मवशतः किए जाते हैं। वर्णाश्रमधर्मका आचरण सकाम कर्म है। अतः इनसे श्रेष्ठ है—श्रीकृष्णके प्रति कर्मोंका अर्पण। श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

(श्रीगी. ३/९)

अर्थात् हे कुन्तीनन्दन! श्रीविष्णुके लिए अर्पित निष्काम कर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंके द्वारा मनुष्यको कर्मबन्धन होता है। अतः तुम फलाकांक्षारहित होकर भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे कर्मका भलीभाँति आचरण करो। श्रीहरिकी प्रसन्नताके लिए किए गए कर्म यज्ञ कहलाते हैं। अतः यज्ञके उद्देश्यसे अनुष्ठित कर्मके अतिरिक्त अन्य समस्त कर्म इस प्राकृत जगत्में बन्धनके ही हेतु हैं। इसी प्रकार गीतामें ही कहा गया है—

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(श्रीगी. २/५१)

बुद्धियोगसे युक्त पण्डितगण कर्मजनित फलको त्यागकर जन्म बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और अनामय पदको प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार निष्कामभावसे कर्म करनेसे सारे बन्धनोंका भय ही समाप्त हो जाता है। गीतामें कर्मयोगकी व्यवस्थामें कर्मोंके फलोंके परित्यागकी बात कही गई है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

हे अर्जुन! इस प्रकार तुम शुभ तथा अशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे मुक्त होओगे तथा कर्मफलत्यागरूप योगसे युक्त होकर मुक्तगणमें विशिष्ट होकर मुझे प्राप्त होओगे।

गौड़ीय गोस्वामियोंने यह स्पष्ट कर दिया है कि निम्न-कोटिके कर्म, पापयुक्त कर्म कभी भी भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अर्पित नहीं होना चाहिए। स्वयंको अर्पितकर, स्वयंके भोक्तृत्व एवं कर्तृत्वको अर्पणकर भक्ति करनी चाहिए यथा—

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं पादसेवनमर्चनम्।

वन्दनं स्वार्पणं सख्यं सर्वं दास्ये प्रतिष्ठितम्॥

(श्रीहरिभक्तिकल्पलतिका १०/३)

उपर्युक्त श्लोकके द्वारा प्रभुके प्रति दास्यभाव अभिव्यक्त हुआ है। भक्तकी भावना होती है “मैं प्रभुका दास हूँ।” दास बननेकी स्थितिमें अपना कुछ नहीं रह जाता—अपनी देह, बुद्धि, इन्द्रिय, वाक्, चित्त, धर्म, काम, अर्थ और समस्त कर्म—कुछ भी अपना नहीं रह जाता। वह कभी यह भी नहीं कह सकता कि “मैं तपस्या करता हूँ”, “मैं भक्ति करता हूँ।” कर्तृत्व रहता ही नहीं। भक्तिका प्रथम स्तर ही आत्मसमर्पण है।

विष्णुकी आराधना करनेसे जब हमारे मनोरथ पूर्ण होने लगते हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् विष्णु हमसे प्रसन्न हैं। किन्तु यथार्थतः यह बात नहीं है। अतः महाप्रभुजीने इसे बाह्य कहा। इस प्रकारकी आराधनासे भगवान् स्वाभाविक रूपसे नहीं, ऊपरसे ही भक्तोंकी प्रसन्नताके लिए प्रसन्न होते हैं। आराधक पृथ्वी, स्वर्ग आदिको अपना कुटुम्ब मान लेते हैं, जिसका स्वरूपसिद्धा भक्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्णाश्रमधर्मोंका पालन करते हुए कोई अपनी तपस्याको, कोई पिताको और कोई अपनी माताको ही अपना सर्वस्व मान लेता है। उदाहरणार्थ एक ब्राह्मण वृक्षके नीचे तपस्या कर रहा था। उस वृक्षके ऊपर बैठे हुए कबूतरने उसपर वीट कर दी—इससे ब्राह्मणका ध्यान भङ्ग हो गया। क्रोधावेशमें उस ब्राह्मणने कबूतरको देखा तो वह कबूतर जलकर भस्म हो गया। ब्राह्मणको आभास होने

लगा कि उसकी तपस्या सिद्ध हो गई है। बस उसे अभिमान हो गया। भगवत् प्रसन्नतासे उसे कुछ लेना-देना नहीं है। भगवान् ऐसे भक्तोंको उनके वाञ्छित पदार्थ पूर्णकर उनसे अनासक्त ही रहते हैं। जो साधक श्रीकृष्णप्रसादसम्पन्न उत्तमाभक्ति करते हैं, न तो वे कुछ चाहते हैं, न ही श्रीकृष्णके पास देने योग्य कुछ रह जाता है, स्वयं ही उनके हाथों बिक जाते हैं। वर्णाश्रमोचित साधन श्रीविष्णुको आंशिक रूपसे प्रसन्न करते हैं। अतः इसको बाह्य कहा गया।

श्रील सरस्वती प्रभुपाद कहते हैं—वर्णाश्रमधर्मका आचरण करनेसे प्राप्त की गई उपलब्धियाँ अस्मितासे प्राप्त दैहिक होती हैं, जो इस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत हैं, जब कि भक्ति इस प्राकृत ब्रह्माण्डसे अतीत होती है। श्रीभगवान् गौरहरि निजधाम वैकुण्ठ अथवा गोलोकके बाह्य स्थित व्यक्तिकी बाह्यानुभूतिको त्याज्य कहते हैं—फिर इस आराधनामें विष्णुकी स्वतन्त्रता विशेष भी निर्दिष्ट नहीं होती। निर्विशेषी, सविशेषी, ज्ञानी, कर्मी सब ऐसे ही प्राकृत उद्देश्योंसे विष्णुकी आराधनाका अनुष्ठान करने लग जाते हैं। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि इस प्रकार सामान्य वर्णाश्रमधर्मकी अपेक्षा कर्मोंका कृष्णार्पण करना ही समस्त-साध्योंका सार है। यहाँ निर्विशेष तत्त्ववादी सविशेष कर्मोद्देश्यमें लगे रहते हैं। बाहरसे भक्ति दीखनेपर भी यथार्थ भक्ति नहीं करते। जो कुछ अर्पण किया जाता है, उस वस्तुका सम्बन्ध देहसे होता है। आत्मासे इसका सम्बन्ध न होनेके कारण महाप्रभुने इसे बाह्य कहा। अस्पताल बनवाना, धर्मशाला-निर्माण, कुआँ खुदवाना आदि कर्म कृष्णार्पण होनेपर भी बाह्य ही हैं और आत्म-सम्बन्धमें बाधा डालते हैं—अनर्थ रहित भजन नहीं हो पाता।

श्रील रघुनाथदास गोस्वामी कहते हैं—

न धर्म नाधर्म श्रुतिगणनिरुक्तं किल कुरु

ब्रजे राधाकृष्णप्रचुरपरिचर्यामिह तनु।

(श्रीमनःशिक्षा २ श्लोक)

अर्थात् हे मेरे प्यारे मन! श्रुतियोंमें कथित धर्म और अधर्म कुछ भी मत करो, बल्कि श्रुतियोंने चरम सिद्धान्तके रूपमें जिनको

सर्वोपादेय चरम उपास्य एवं सर्वोपरि परम तत्त्व निर्धारित किया है, उन श्रीराधाकृष्ण युगलकी प्रेममयी प्रचुर परिचर्या करो ॥५९॥

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ॥६०॥

(श्रीगी. ९/२७)

श्रीकृष्ण अर्जुनसे कह रहे हैं—हे कौन्तेय! तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य है कि तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान करते हो और जो तपस्या करते हो, वह सब मुझे अर्पण करो, मेरे ही प्रीतिविधानके लिए समस्त अनुष्ठान करो।

‘मदर्पण’ शब्दसे जड़ निर्विशेषका खण्डनकर स्वतन्त्र सविशेष तत्त्वकी बात कही जा रही है। इसे निष्काम कर्म ज्ञानमिश्राभक्ति कहा जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजी कहते हैं—जो लोग ज्ञान-कर्मादिका त्याग नहीं कर सकते, जो अनन्य भक्तिके अधिकारी नहीं है और निकृष्ट सकाम भक्तिमें भी जिनकी रुचि नहीं है, उन-उन लोगोंके लिए भगवान् श्रीकृष्णने उक्त श्लोकगत भगवदर्पित भक्तिका साधन बतलाया है। इसे हम शुद्ध निष्काम कर्मयोग नहीं कह सकते; क्योंकि केवल शास्त्र-विहित कर्मोंको भगवत् अर्पण करना ही निष्काम कर्मयोग है—व्यवहारिक खाना-पीना नहीं। जैसे जो भजनीय तत्त्वकी उपासनाका निर्णय नहीं कर सकते, उन्हें विराट् स्वरूपकी उपासना बता दी जाती है, उसी प्रकार जो अनन्य भजनकी रीति नहीं जानते, उन्हींके लिए खाना, पीना, अर्पण करनेका उपदेश है। ‘कुरुष्व’ आत्मनेपद क्रिया है। तदनुसार क्रियाका फल कर्त्ताको ही मिलता है—भगवान्का यहाँ भी इससे कोई सम्बन्ध नहीं। नवधा-भक्तिके लिए साधक पहले अपनेको भगवान् श्रीविष्णुके प्रति आत्मसमर्पणपूर्वक अनुष्ठान करता है, परन्तु यहाँ पहले अनुष्ठान किया जाता है, फिर अर्पित किया जाता है, अतः इस प्रकारकी भक्तिको भक्तियोग कहना तो दूरकी बात है, यह तो भक्तियोगका अङ्ग भी नहीं है।

प्रभु कहे,—“एहो बाह्य, आगे कह आर।”

राय कहे,—“स्वधर्मत्याग,—एइ साध्य सार॥” ६१ ॥

महाप्रभु कहते हैं कि यह भी बाह्य वस्तु है, आगे कुछ और बतलाओ। तब राय रामानन्दने कहा कि ‘स्वधर्म त्याग’ ही साध्यसार है।

स्वधर्म त्याग—वर्णाश्रमधर्मका त्याग। वर्णाश्रमधर्म फलकी इच्छायुक्त स्वधर्म है तथा श्रीकृष्णके प्रति कर्म और कर्मफलोंका अर्पण है—फलकी इच्छारहित स्वधर्म। जब इन दोनों प्रकारके स्वधर्मोंको ही श्रीमन्महाप्रभुजीने बाह्य बतलाया, तब राय रामानन्दने ‘स्वधर्म त्याग’ की बात कही। क्रम-परम्परासे सर्वप्रथम वर्णाश्रमधर्मको साध्य बताया, जिसे श्रीमन्महाप्रभुने बाह्य बता दिया; क्योंकि इससे प्रेमभक्ति प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् प्रेमके सोपानपर आरूढ़ नहीं हुआ जा सकता। तब कर्मार्पणको साध्य बताया, परन्तु उसे भी श्रीमन्महाप्रभुने बाह्य बतलाया, क्योंकि “भक्त्या संजातया भक्त्या।” यह पहले भी निर्दिष्ट हुआ है। टीकाकार श्रीधरपाद कहते हैं—“भक्त्या साधनभक्त्या संजातया प्रेमलक्षणया।” साधनभक्तिसे ही प्रेमभक्ति उद्भूत होती है।

श्रीविश्वनाथ चकवर्ती ठाकुर कहते हैं—जो भजनानुसन्धान करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिए ही “यत्करोषि” इत्यादि श्लोक कहा गया है। स्वधर्माचरणसे मन निर्मल होता है। उसके अनाचरणमें दोष है, अतः स्वधर्माचरण ही श्रेष्ठ है और जो स्वधर्मका भी परित्यागकर भजन करते हैं, वे उत्तम साधु हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

(श्रीमद्भा. ११/२०/९)

कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं, उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिए, जब तक कर्ममय जगत और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे वैराग्य न हो जाए अथवा जब तक मेरी लीलाकथाके श्रवण-कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाए। निर्वेद होनेके कारण श्रीकृष्णकथा-श्रवणमें रुचि नहीं है या रुचिका अभाव है और

उसी निर्वेद भावसे वह स्वधर्मका परित्याग करता है, तो वह भ्रष्ट हो जाएगा। उसकी भगवान्‌के प्रति शरणागति गुण-दोष-कर्मोंके भोगनेके भयसे है, प्रेमसे नहीं। अतः श्रीमहाप्रभुने इसे बाह्य कहा। भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट रूपसे कह रहे हैं—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।

न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

(श्रीमद्भा. ११/२०/८)

जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा पूर्वजन्मके किसी शुभकर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीलाकथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गई है, वह भक्तियोगका अधिकारी है। उसे भक्तियोग द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है।

स्वधर्माचरणको बाह्य कहनेका तात्पर्य यह है कि वह वर्णाश्रमका पालन करता हुआ आचरण करता है। श्रील रूपगोस्वामीपाद कहते हैं—“शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता” (भ. र. सि. १/२/६०)।

वर्णाश्रमाचार-विहीन मनुष्य भी विष्णु आराधनाका अधिकारी है—यह तथ्य उपर्युक्त श्लोकांशसे स्पष्ट हो जाता है ॥६१॥

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।

धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः ॥६२॥

(श्रीमद्भा. ११/११/३२)

हे उद्धव! मैंने शास्त्रोंमें जिन धर्मोंका उपदेश दिया है, उनके गुण-दोषोंका विचारकर उस वर्णाश्रमधर्म-प्रवृत्तिका परित्याग करके जो मेरा भजन करता है, वही सत्पुरुषोंमें परम श्रेष्ठ है।

शास्त्र अर्थात् वेदादि धर्मशास्त्र। आज्ञाय—आ अर्थात् सम्यक् प्रकारसे ज्ञाय अर्थात् जानकर। गुण-दोषोंको भलीभाँति जानकर तत्पश्चात् स्वकीय (वर्णाश्रम) धर्मका परित्याग करना चाहिए।

शुद्धभक्तिमें तीन बातें बाधक होती हैं—(१) देहात्मबुद्धि, (२) जीव-ब्रह्मका ऐक्यज्ञान, और (३) भगवत्तत्त्वज्ञान अथवा ऐश्वर्यज्ञान। तीन प्रकारके लोग कर्मोंका त्याग करते हैं—(१) अज्ञ—जो अज्ञतावशतः

वेदविहित नित्य नैमित्तिक कर्मोंका परित्याग करते हैं, (२) नास्तिक—जो वेदादि वर्णित कर्मोंके सम्बन्धमें सब जानते हैं, परन्तु उनमें विश्वास नहीं करते, और (३) सर्व-परित्यागी—जो यह जानते हैं कि कर्म शुद्धाभक्तिका अङ्ग नहीं है। उनका सुदृढ़ विश्वास है कि श्रीकृष्णकी भक्ति करनेसे सम्पूर्ण कर्म स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं। अतः जो सत्तम हैं, वे तीसरी श्रेणी वाले हैं। भगवान्का अभिप्राय उनसे ही है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे ही साधुओंके सङ्गका महत्त्व बताते हुए भगवान्ने कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो

भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि

श्रद्धा-रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

(श्रीमद्भा. ३/२५/२५)

सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे मेरे पराक्रमका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली वीर्यवती कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही अविद्या-निवृत्तिके पथस्वरूप मुझमें सबसे पहले श्रद्धा, पीछे रति और अन्तमें प्रेमभक्तिका उदय होता है। वह कृपालुता इत्यादि समस्त गुणोंका अधिकारी अपने आप हो जाता है। श्रीचैतन्यचरितामृत (म. २२/४३) में कहा है—“कृष्ण भक्ते कृष्णो गुण सकलि सञ्चारे ॥” ६२ ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६३॥

(श्रीगी. १८/६६)

हे अर्जुन! वर्णाश्रम आदि सभी धर्मोंका परित्याग करके एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ। मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो।

श्रीरघुनाथ दास गोस्वामीने भी स्वरचित मनःशिक्षामें कहा है—“न धर्म नाधर्म श्रुतिगणनिरुक्तं किलकुरु, ब्रजे राधाकृष्ण-प्रचुर-परिचर्यामिह

तनु।” अर्थात् श्रुतियोंमें कहे गए धर्म या अधर्म कुछ भी न करो; केवल ब्रजमें रहकर श्रीराधाकृष्ण-युगलकी निरन्तर प्रचुर रूपमें सेवा करो।

श्रील सरस्वती प्रभुपाद इस पयारकी व्याख्याके लिए श्रीमद्भागवतसे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः ।

स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥

(श्रीमद्भा. ४/२९/४६)

हृदयमें बार-बार चिन्तन किए जानेपर भगवान् जिस समय जिस जीवपर कृपा करते हैं, उसी समय वह लौकिक व्यवहार एवं वैदिक कर्ममार्गकी बद्धमूल आस्थासे छुट्टी पा जाता है। सर्व धर्मान्से तात्पर्य है—वर्ण, आश्रम आदि समस्त शारीरिक एवं मानसिक धर्म। ‘परि’ उपसर्गका गूढ़ तात्पर्य यह है कि स्वरूपतः सभी कर्मोंका परित्याग। इन सभी धर्मोंका आत्मरतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार साधककी ब्रह्मनिष्ठा, ईश्वरनिष्ठा समाप्त हो जाती है और वह भगवन्निष्ठाको प्राप्त हो जाता है ॥६३॥

प्रभु कहे,—“एहो बाह्य, आगे कह आर।”

राय कहे,—“ज्ञानमिश्रा भक्ति—साध्यसार ॥” ६४ ॥

श्रीमन्महाप्रभुजी द्वारा स्वधर्मत्यागको बाह्य कहे जानेपर राय रामानन्दजीने ज्ञानमिश्रा भक्तिको ही सभी साध्योंका सार बतलाया।

ज्ञानमिश्राभक्ति—ज्ञानके साथ मिली हुई भक्तिको ज्ञानमिश्राभक्ति कहते हैं। ज्ञानके तीन अङ्ग हैं—तत्पदार्थका ज्ञान (परतत्त्व या भगवत्-तत्त्वका ज्ञान), त्वंपदार्थका ज्ञान (जीव-स्वरूपका ज्ञान, जीव और ब्रह्मके परस्पर सम्बन्धका ज्ञान भी इसके अन्तर्गत है) तथा जीव और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान (जीव और ब्रह्म एक हैं—यह ज्ञान)। अन्तिम अङ्ग अर्थात् जीव और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान भक्तिका नितान्त विरोधी है। क्योंकि ऐक्यज्ञान होनेपर जीवके साथ ब्रह्मका स्वरूपगत सम्बन्ध (सेव्य-सेवक भाव) ज्ञान स्फुरित अर्थात् उदित नहीं हो सकता।

किन्तु प्रथम दो अङ्ग अर्थात् ब्रह्मतत्त्व या भगवत्-तत्त्वका ज्ञान और जीवतत्त्वका ज्ञान भक्ति-विरोधी नहीं हैं; क्योंकि ये दोनों ज्ञान सेव्य-सेवक भावके विरोधी नहीं हैं। प्रस्तुत प्यारमें कहे गए 'ज्ञान' शब्दके व्यापकतम अर्थको ग्रहण करनेसे इन तीनों अङ्गोंके साथ मिश्रिता भक्तिको ही मिश्रा भक्ति कहा गया है—ऐसा समझा जा सकता है; किन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ यह विचारणीय है कि बिना भक्तिकी सहायतासे केवल निर्विशेष ज्ञान सायुज्य मुक्ति प्रदान नहीं कर सकता। अतः यहाँपर आलोच्य प्यारमें लिखित ज्ञानमिश्रा भक्तिका तात्पर्य जीव-ब्रह्म ऐक्यज्ञानसे ही है। इसके अतिरिक्त भक्तिमार्गके साधकोंमें भी कुछ लोग भगवत्-तत्त्वज्ञान, जीवतत्त्वज्ञान, आनुषङ्गिक भावसे दोनोंके मध्य सम्बन्धज्ञान और मायातत्त्वके ज्ञान आदि भक्तिके अविरोधी विविध प्रकारके ज्ञानको प्राप्त करनेकी प्रधानता देते हैं। अतः इनके द्वारा अनुष्ठित भक्ति-अङ्गोंके साधनमें भी ज्ञान मिश्रित रहता है। अतः इनकी भक्तिको भी ज्ञानमिश्रा भक्ति कहा जा सकता है। किन्तु प्रस्तुत प्यारमें राय रामानन्दजीके ज्ञानमिश्रा भक्तिका उद्देश्य जीव-ब्रह्म ऐक्यज्ञानसे ही है। क्योंकि उनके द्वारा प्रस्तुत श्लोक “ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा” से यही स्पष्ट है। क्योंकि उक्त श्लोककी टीकामें श्रीशङ्कराचार्य, श्रीपाद श्रीधरस्वामी और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर सभीने उसका तात्पर्य जीव-ब्रह्म ऐक्यज्ञान ही ग्रहण किया है।

शुद्धभक्तिमार्गमें स्वधर्म त्याग करनेकी विधि रहनेपर भी उसमें एक अधिकारकी व्यवस्था है। वह व्यवस्था श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(श्रीमद्भा. ११/२०/९)

अर्थात् जब तक कर्मसे निर्वेद अवस्था नहीं जन्म लेती अथवा निर्वेद होनेपर अकस्मात् किसी महापुरुषकी कृपासे भगवत्कथा-श्रवण-कीर्तनमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तभी तक कर्म करना चाहिए।

महत्कृपाके द्वारा आत्यन्तिकी श्रद्धा उत्पन्न होनेपर ही केवला भक्तिमें अधिकार होता है और तभी वह स्वधर्म त्याग करनेका अधिकारी होता है।

किन्तु अनधिकारी जब सर्वधर्मत्याग करता है, तब उसमें अमङ्गलकी आशंका रहती है। इसलिए श्रीमन्महाप्रभु इसे बाह्य कह रहे हैं। श्रवण, कीर्तन यदि हृदयकी आन्तरिक प्रीतिसे नहीं, अपितु कर्तव्यबुद्धिजनित मनोवृत्तिसे होते हों, तो ये बाह्य हो जाते हैं। श्रीमन् महाप्रभु इससे भी कुछ उत्कृष्ट चाहते हैं, इसलिए श्रीराय रामानन्दजीने ज्ञानमिश्रा भक्तिको साध्य बताया। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपाद कहते हैं कि कर्मोन्नत-जीवोपलब्धिमें ब्रह्माण्डके अन्तर्गत जो अस्मिता है, उस 'अस्मिता' के दूर हो जानेपर तथा विरजानदीके अतीत तीनों गुणोंके प्राबल्यके अभावमें साम्य अथवा अव्यक्तावस्था आती है। ब्रह्माण्ड बहिरङ्गाशक्तिसे प्रकटित है और वैकुण्ठ धाम अन्तरङ्गाशक्तिसे प्रकटित है—इन दोनोंके मध्य ब्रह्मलोक एवं विरजा नदी है। यह विरजा नदी जड़विरक्त एवं जड़निर्विशेष जीवोंकी उपलब्धिका आश्रय स्थान है—अतः अव्यक्तावस्थावालोंका वैकुण्ठमें प्रवेश ही नहीं है—इसलिए ये बाह्य हैं। जिस प्रकार ब्रह्माण्डके अन्तर्गत सर्वधर्मोंका त्याग करनेवाले साधकोंकी अनुभूतिको वैकुण्ठ या गोलोकधामकी अनुभूति नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार साध्यवृत्ति जड़भोग्यत्त होनेपर अचित्-निर्विशेषत्व-प्रतिपादक होती है—अतः वह बाह्य ही है। वस्तुतः प्रेमभक्तिको ही पराभक्ति कहते हैं। इस स्तरमें आए बिना प्रेमभक्तिकी सम्भावना नहीं होती। ज्ञानमिश्रा भक्तिमें ज्ञान प्रधान रहता है—यह भक्ति नहीं, अपितु वह भगवत्-चरणोंमें अपराध ही है। साम्य या अव्यक्तावस्थामें शुद्ध गुरु-वैष्णवोंका सङ्ग मिल जाए तो शुद्धभक्ति हो सकती है। जिस प्रकार सरसोंके पीले-पीले बीजोंके ढेरमें सोनेका एक वैसा ही गोल टुकड़ा मिला दिया जाए तो उसे निकालकर पृथक् करना बड़ा ही दुष्कर कार्य होगा। किन्तु उक्त ढेरमें आग लगा देनेपर सरसोंके बीज जल जानेपर उक्त सोनेका टुकड़ा सहज ही पाया जा सकता है। इसी प्रकार शुद्ध गुरु और वैष्णवोंके सत्सङ्गसे ज्ञानरूपी सरसोंके बीज श्रवण-कीर्तनरूपी आगमें जलकर भस्म हो जानेपर

शुद्धभक्तिरूपी स्वर्ण-अंश मिल जाएगा। इस प्रकार जहाँ ज्ञानमिश्रा भक्ति समाप्त होती है, वहाँसे शुद्धभक्ति प्रारम्भ होती है। ज्ञानी सायुज्य लाभ तो करना चाहते हैं, परन्तु वह सायुज्य मुक्ति केवल ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं होती; उस ज्ञानके साथ भक्ति मिश्रित होनेपर ही वह प्राप्त होती है। ऐसी ज्ञानमिश्रा भक्तिसे कभी भी प्रेम उत्पन्न नहीं होता। अतः इस प्रकारका ज्ञान शुद्धभक्तिमें व्यवधानका कारण होता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तस्मान्मदभक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥

(श्रीमद्भा. ११/२०/३१)

इसलिए जो योगी मेरी भक्तिसे युक्त और मेरे चिन्तनमें मग्न रहता है, उसके लिए ज्ञान अथवा वैराग्यकी आवश्यकता नहीं होती। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है॥६४॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥६५॥

(श्रीगी. १८/५४)

ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित्त व्यक्ति न तो शोक करते हैं और न ही आकांक्षा करते हैं। वे सभी भूतोंमें समदर्शी होकर प्रेम लक्षण युक्त मेरी पराभक्तिको प्राप्त करते हैं।

वेदोंमें जीव और ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन करनेवाले प्रचुर मन्त्र है। उनमेंसे कुछ नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं—

(क) प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः (श्वे. उ. ३/६/१६)

(ख) तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् (श्वे. उ. ३/३/१९)

(ग) याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् (ई. उ. ३/८)

(घ) तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् (श्वे. उ. ३/३/९)

(ङ) नित्यो नित्यानाम् (क. उ. ३/२/१३, श्वे. उ. ३/६/१३)

इन कारिकाओंसे यह स्पष्ट होता है कि किसी भी स्थितिमें जीव ब्रह्ममें घुल मिलकर एक नहीं हो सकता। ब्रह्मभूत स्थितिको प्राप्त

करनेवाले दो प्रकारके होते हैं, कुछ लोग इस स्थितिमें पहुँचकर भी भगवद्धक्त तथा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला, कथाओंका अनादरकर केवल सायुज्य मुक्तिकी चेष्टा करते हैं। इस श्रेणीके ब्रह्मभूत व्यक्ति अपराधी होते हैं, इन्हें कभी मुक्ति नहीं मिलती, बल्कि वे आसुरी योनियोंमें पड़कर संसार चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं। दूसरी श्रेणीके ब्रह्मभूत जीव अपराधी न होनेके कारण सहज ही भक्तोंका आश्रय ग्रहणकर पराभक्ति प्राप्त करते हैं॥६५॥

प्रभु कहे,—“एहो बाह्य, आगे कह आर।”

राय कहे,—“ज्ञानशून्या भक्ति—साध्यसार॥”६६॥

यह बात सुनकर श्रीमन्महाप्रभुने कहा—यह भी बाह्य है—आगे कुछ और हो तो कहो। तब राय रामानन्दने कहा—ज्ञानशून्याभक्ति ही श्रेष्ठ साध्य है।

ज्ञानशून्याभक्ति—ज्ञानके साथ अमिश्रिता भक्ति। पहले बतलाया जा चुका है कि ज्ञानके तीन अङ्ग हैं—भगवत्-तत्त्वज्ञान, जीवतत्त्वज्ञान और जीव-ब्रह्मका ऐक्यज्ञान। प्रस्तुत पयारमें इन तीन प्रकारके ज्ञानोंसे सम्पर्करहित भक्तिकी बात कही गयी है। ज्ञानशून्याभक्ति ज्ञानमिश्राभक्तिसे इसलिए श्रेष्ठतर है कि सेव्य-सेवकत्व भावका विरोधी जीव-ब्रह्मैक ज्ञानका मिश्रण इसमें नहीं रहता। और भी इसमें शुद्धभक्तिके मार्गमें विघ्न-उत्पन्न करनेवाले भगवत्-तत्त्वज्ञान और जीवतत्त्वज्ञानको संग्रह करनेके लिए अत्याग्रहका मिश्रण भी नहीं है। ज्ञानशून्याभक्तिमें सम्बन्ध ज्ञानका सम्यक् विकास होता है। किन्तु ज्ञानमिश्राभक्तिमें जीव शुष्कज्ञानी बन जाता है। सौभाग्य उदित होनेपर शुद्धभक्तोंके सङ्गके प्रभावसे अतिशीघ्र ही शुद्ध प्रेमभक्ति प्राप्त होती है। इस स्थितिमें उसकी भक्तिमें बाधाएँ क्रमशः निरस्त होती रहती हैं। वह संसारकी वासनाओंसे बहुत ऊपर उठ चुका होता है—वस्तुतः वह साधक प्रेमभक्ति उपलब्धिके ठीक उचित स्तरपर खड़ा है॥६६॥

राय रामानन्दजीने ज्ञानशून्याभक्तिके सम्बन्धमें निम्नलिखित श्रीमद्भागवतका प्रमाण दिया—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव,
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थानेस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥६७॥

(श्रीमद्भा. १०/१४/३)

ब्रह्माजी श्रीकृष्णसे कह रहे हैं—इन्द्रियोंसे उत्पन्न ज्ञानकी सहायतासे इन्द्रियातीत वस्तुकी प्राप्तिके साधनका नाम आरोहवाद या अश्रौतपन्था है। परन्तु जो ज्ञानके लिए कुछ प्रयत्न न कर काय-मन-वाक्यसे साधुमुखसे निःसृत आपकी लीलाकथाओंका सेवनकर जीवन धारण करते हैं, उनके द्वारा कोई कर्म न किए जानेपर भी आप अजित होकर उनके द्वारा जीत लिए जाते हैं। आप उनके प्रेमके अधीन हो जाते हैं—“भक्तिवशः पुरुषः।” ज्ञानशून्याभक्तिमें सम्बन्ध या ममताका अभाव है, फिर भी आनन्दकी प्राप्ति होती है, जैसे चन्द्रमासे कुछ सम्बन्ध न होनेपर भी जीवको चन्द्र-दर्शनसे आनन्दकी प्राप्ति होती है।

ज्ञान दो प्रकारका होता है—तत्पदार्थका ज्ञान एवं त्वंपदार्थका ज्ञान। श्रीभगवान् ही सभीके द्वारा सेव्य हैं और जीवमात्र ही उनका सेवक है। इसके विपरीत जो निर्विशेष ज्ञान है—वह भक्तिमें बाधक है और सम्पूर्ण रूपसे त्याज्य है। यही कारण है कि ज्ञानशून्याभक्तिको ज्ञानमिश्राभक्तिसे श्रेष्ठतर माना गया। श्रीमद्भागवतसे प्रस्तुत किए गए इस श्लोकसे श्रीराय रामानन्दने यह पूर्णरूपेण अभिव्यक्त कर दिया कि केवल भक्तोंके मुखसे ही हरिकथा श्रवण करनेसे साधकको सब कुछ प्राप्त हो सकता है। सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन प्राप्ति इन्हीं कथाओंपर आधारित है। ये ही कथाएँ साध्य हैं और ये ही साधन भी हैं। जब श्रीकृष्ण मथुरा चले गए, तब उन्होंने वहाँसे अपने सखा उद्धवके साथ ज्ञानकी गुदड़ी व्रजमें भेजी। गोपियोंने इस गुदड़ीको लेकर चीर-चीरकर यमुनामें फेंक दिया। यमुना प्रयागसे होती हुई समुद्रमें मिल गई। समुद्रके क्षार जलमें ये ज्ञानके चिथड़े गलकर

अपना अस्तित्व ही खो बैठे। गोपियोंने निर्विशेष ज्ञानके नामका अस्तित्व ही ब्रजमें नहीं रखा। ऐश्वर्य—ब्रजमें कोई सेवाका अधिकार प्राप्त कर ही नहीं सकता। यदि करना भी चाहे तो वहाँ ब्रजका अगाध, गम्भीर, असीमित, अपार माधुर्यका समुद्र उस ऐश्वर्यको क्रीड़ीभूत कर लेता है। उदाहरणार्थ—खोलते हुए दूधकी कड़ाहीमें एक तिनका डाल दिया जाए, तो वह तिनका एक क्षणके लिए ऊपर आता है, पर साथ-ही-साथ वही तिनका दुग्धमें कहाँ विलीन हो जाता है—पता भी नहीं लगता। इसी प्रकार दूधस्वरूप अगाध ब्रज-माधुर्य-समुद्रमें तृण-सदृश ऐश्वर्य विलीन हो जाता है। पता ही नहीं चलता, वह कहाँ था भी या नहीं। इसकी पुष्टि श्रीशुकदेव गोस्वामीजीके इस कथन द्वारा भी की जा सकती है—

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्वरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तात्र स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥

(श्रीमद्भा. ४/२९/४०)

उस साधु समाजमें महापुरुषोंके मुखसे निःसृत श्रीकृष्णके चरित्ररूप शुद्ध अमृतकी अनेक नदियाँ बहती रहती हैं, जो लोग अतृप्त चित्तसे श्रवणमें तत्पर अपने कर्ण-कुहरों द्वारा उस अमृतका छककर पान करते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय, शोक और मोह आदि अनर्थ कभी कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते। श्रुति कहती है—“तमेव, विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय”—उस (सच्चिदानन्दस्वरूप) को जानकर जीव संसार-सागरको पार कर जाता है, उसको जाने बिना संसार-दावानलसे मुक्तिका और कोई उपाय नहीं है। मुक्त ही नहीं हो जाता, वह तो श्रवणमात्र करनेके प्रयाससे ही श्रीभगवान्‌को अपने वशमें कर लेता है। यदि कोई ज्ञान प्राप्तिकी चेष्टा भी करता है, तो धानके छिलके कूटनेवाले व्यक्तिके समान उसके हाथ कुछ भी नहीं लगता।

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

(श्रीमद्भा. १०/१४/४)

यथार्थतः भगवत्-तत्त्व-कथाएँ भगवत्-रूप-गुण-लीलादिके कथा-पीयूष रससे अभिसिञ्चित होकर परम लोभनीय एवं सरस बन जाती हैं।

श्रीभगवान्ने स्वयं दुर्वासा ऋषिसे भी यही कहा था—“अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज” (श्रीमद्भा. ९/४/६३)।

हे ब्राह्मण! परम भक्त साधुगण मेरे हृदयपर सम्पूर्ण रूपसे अधिकार किए हुए हैं। मैं अपने भक्तजनोंको अतिप्रिय हूँ। अतः मैं उनकी वश्यता स्वीकार करता हूँ। भक्तके प्रेमरसनिषिक्त हृदयको त्यागनेकी मेरी इच्छा नहीं होती। ज्ञानशून्यभक्तिसे भगवान्की वशीकारिता प्रारम्भ हो जाती है। वशीकारित्वसे भक्तिका तारतम्य भी प्रारम्भ हो जाता है। प्रेमभक्ति प्राप्त करनेकी दिशामें ज्ञानशून्यभक्ति प्रथम बिन्दु कही जा सकती है (उचित मार्गपर उचित कदम) तारतम्यके अनुसार ही भगवान्की वश्यता भी होती है। इस वश्यताकी विचित्रताका मुख्य कारण है—साधककी रुचि, प्रकृति और वासना भेद। सबकी भक्ति एक समान नहीं होती, न ही भक्ति-अङ्गोंके अनुष्ठान एक समान होते हैं। यहाँसे स्वरूपानुबन्धी भक्तिका वर्णन प्रारम्भ होता है। इससे पहलेकी भक्ति देहसे सम्बन्धित थी ॥६७॥

प्रभु कहे,—“एहो हय, आगे कह आर।”

राय कहे,—“प्रेम भक्ति—सर्व साध्यसार ॥” ६८ ॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—रामानन्द! यह साध्य हो सकता है। किन्तु इसके आगे कुछ कहो। श्रीरामानन्दने कहा—प्रेमभक्ति सर्वसाध्योंका सार है।

इहो हय—यह भी हो सकता है। अब तक श्रीमन्महाप्रभुजीने “इहो बाह्य” ही कहा है। ज्ञानशून्यभक्तिकी बात सुनकर उन्होंने कहा—“यह ठीक है।” क्योंकि इससे पहले रायने जो कुछ कहा था, उनमें सेव्य-सेवकरूप सम्बन्धज्ञान विकासके लिए अनुकूल भाव नहीं था। परन्तु ज्ञानशून्यभक्ति सेव्य-सेवक-सम्बन्ध विकासके लिए अनुकूल है।

“आगे कह आर”—और अग्रसर होओ। महाप्रभुके मनका अभिप्राय यह है कि राय रामानन्द अब ठीक पथपर आए तो हैं; परन्तु उन्हें और भी अग्रसर होना चाहिए। राय रामानन्दजीके ज्ञानशून्यभक्तिके समर्थनमें श्रीमद्भागवतके जिस श्लोकका उल्लेख किया है, उसके द्वारा यह अवगत हुआ जाता है कि हरिकथा श्रवणरूप ज्ञानशून्यभक्तिके प्रभावसे भगवान् साधकोंके वशीभूत हो जाते हैं। श्रुति भी कहती है—“भक्तिवशः पुरुषः।” किन्तु भगवत्-वश्यताका भी तारतम्य है। सभी भक्तोंके निकट भगवान् एक समान वशीभूत नहीं होते। क्योंकि साधककी रुचि, स्वभाव और वासनाके भेदसे एक ही भक्ति-अङ्गके अनुष्ठानका फल या प्रभाव विभिन्न प्रकारका होता है। अतएव साधकोंकी रुचि, वासनाके अनुरूप ही उनके भक्ति-अनुष्ठानके प्रभावसे भगवान् उनकी भक्तिके तारतम्यसे वशीभूत होते हैं। तात्पर्य यह है कि सेवा-वासनाकी अभिव्यक्तिके तारतम्यके अनुसार ही भगवान्की भक्तवश्यताका भी तारतम्य होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और कान्त भाववाले भक्तोंके निकट भगवान्की भक्तवश्यता इसीलिए एक प्रकारकी नहीं होती।

और भी एक बात विचारणीय है; वह यह कि साधु-भक्तोंके मुखसे हरिकथा श्रवणमात्रसे ही क्या भगवान् वशीभूत हो जाते हैं अथवा हरिकथा-श्रवण करनेसे कोई विशेष अवस्था होनेपर भगवान् श्रोताके वशीभूत होते हैं? इसी अभिप्रायसे महाप्रभुजीने रायको आगे कुछ कहनेका संकेत दिया।

भगवान्की कथाओंके श्रवणसे भगवान् श्रोताके वशीभूत हो जाते हैं—यह ठीक है। परन्तु हरिकथाके श्रवणसे जब श्रोता प्रेमकी अवस्थामें उपस्थित होता है, तभी भगवान् वशीभूत होते हैं।

प्रेमभक्ति—प्रेम-लक्षणवाली भक्ति। श्रीकृष्णके लिए अत्यन्त सुखकर सेवा-वासनाको प्रेम कहते हैं। श्रवण-कीर्तन आदि ज्ञानशून्यभक्तिका अनुशीलन करते-करते भगवत्-कृपासे जब चित्तकी मलिनता दूर हो जाती है और सेव्य-सेवकका ज्ञान और सेवा-वासना विकसित हो जाती है, तब साधकके हृदयमें स्वरूपशक्तिकी कृपासे ह्लादिनी-सम्बित्-सार-स्वरूप शुद्धसत्त्व प्रकट होता है। तदनन्तर वही शुद्धसत्त्व परिपाक दशामें प्रेम कहलाता है। उस प्रेममय कृष्णसेवाको प्रेमभक्ति कहते हैं।

भगवत्-कथाओंकी भाँति प्रेमभक्ति साध्य भी है, साधन भी। यदि साधकके हृदयमें प्रेम है, तो वह बड़े प्रेमके साथ भक्तिके सभी अङ्गोंका पालन करता है—श्रीकृष्ण उसपर रीझते रहते हैं। प्रेम नहीं है, पर साधक भक्ति करता है, उससे कृष्ण कभी नहीं रीझते। क्षुधा होनेपर सूखी रोटी भी अच्छी लगती है, परन्तु क्षुधा नहीं है, न पिपासा है, तब तो षट्-रस व्यंजन भी नहीं भाते। विदुरजीके प्रेमके वशीभूत होकर श्रीकृष्णने केलेके छिलके खाए और प्रेम न होनेपर दुर्योधनके षट्-रस भोजनका भी त्याग कर दिया था। द्विजपत्नियों द्वारा प्रेमसे प्रस्तुत दही-भात खाया, श्रीरामने भीलनीके जूठे बेर खाए। श्रीमन्महाप्रभुने भक्त श्रीधरकी सब्जी छीन-छीनकर खाई। प्रेमी भक्त जो कुछ भी वस्तु भगवान्‌को प्रदान करते हैं, उसे खानेके लिए भगवान्‌को भूख लग ही जाती है। उन प्रेम-प्रदत्त वस्तुओंको वे बड़े प्रेम और ललकसे ग्रहण करते हैं।

श्रीमन् नारायणकी वक्षविलासिनी लक्ष्मीजीको ब्राह्मणीत्वका अभिमान था, अतः वे ब्रजलीलामें प्रवेश नहीं कर सकीं। सेव्य-सेवकत्वका ज्ञान होते ही सेवा-वासना प्रेमरूपमें बदल जाती है और प्रेमी भक्त संख्यापूर्वक नाम-गान करता हुआ “राधाकुण्ड तटे कुञ्जकुटीर अथवा हे राधे ब्रजदेविके! हे नन्दसूनो कुतः” इन भावोंसे विभावित हो साधन-भजन करता है और भगवान् उस भक्तपर रीझते रहते हैं, भक्त द्वारा प्रदत्त सामान्य वस्तुके लिए भी तरसते हैं। छछिया भर छाछ (प्रेम आस्वादन) के लिए नाचने लगते हैं॥६८॥

नानोपचार-कृतपूजनमार्तबन्धोः

प्रेम्णैव भक्तहृदयं सुखविद्रुतं स्यात्।

यावत् क्षुदस्ति जठरे जरठा पिपासा

तावत् सुखाय भवतो ननु भक्ष्य-पेये ॥६९॥

(पद्यावली १३)

जिस प्रकार पेटमें जब तक तीव्र भूख-प्यास रहती है, तभी तक भोजन और पीनेके द्रव्य सुखदायी होते हैं, उसी प्रकार आर्तबन्धु भगवान्‌की नाना प्रकारके उपचारोंसे पूजा होनेपर भी वह पूजा प्रेमयुक्त होनेपर ही भक्तोंका हृदय आनन्दसे द्रवित होता है तात्पर्य यह है कि तीव्र भूख-प्यास नहीं रहनेसे सुस्वादु, सुगन्धि और मधुर खाद्य और पानीय द्रव्य भी ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं होती। उसी प्रकार प्रेम नहीं रहनेसे नाना प्रकारके उपचारोंके साथ पूजा करनेपर भी श्रीकृष्ण प्रसन्न नहीं होते। परन्तु तीव्र भूख-प्यास रहनेपर साधारण अन्न-जल भी अत्यन्त सुखकर और तृप्तिदायी होता है। उसी प्रकार भक्तके हृदयमें यदि प्रेम रहता है, तभी उसके द्वारा प्रदत्त साधारण वस्तुसे भी श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रीति प्राप्त करते हैं।

यहाँ कुछ लोगोंको यह शंका हो सकती है कि दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिककी सङ्गति यहाँ नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त कहता है कि जिसको क्षुधा-पिपासा है, अन्नजल उसीको सुखदायी होता है। उसी प्रकार प्रेमसे प्रदत्त उपचारसे ही भगवान्‌ प्रसन्न होते हैं। यहाँ भोक्ताकी तीव्र भूख-प्यास रहनेपर ही भोजन आदिसे उसे सुख प्राप्त होता है। किन्तु दार्ष्टान्तिकमें देखा जाता है—जो उपचारके साथ पूजा करेंगे, उनके हृदयमें यदि प्रेम रहे, तभी भगवान्‌का हृदय सुखसे द्रवित हो जाता है। परन्तु यह शंका निराधार है क्योंकि भक्तके हृदयमें भगवत्-प्रीति जितनी ही बलवती होगी, श्रीभगवान्‌ भी उसी परिमाणमें प्रीतिपूर्वक सेवा ग्रहण करेंगे। भक्तके चित्तमें प्रेम नहीं है, तो भगवान्‌के चित्तमें सेवा-ग्रहणकी वासना उदित नहीं हो सकती। भक्तके हृदयमें उत्थित प्रेम जब आर्त्तावस्थामें पहुँचता है तो भक्तवत्सल भगवान्‌में भी सेवा-ग्रहणकी वासना जाग्रत हो जाती है। इसलिए श्रीभगवान्‌को यहाँ

आर्त्तबन्धु कहा गया है। इस साधनाके सन्दर्भमें भक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीरूपगोस्वामी कह रहे हैं—

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।

नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

(भ. र. सि. १/२/२)

साध्य भावभक्ति इन्द्रियोंके द्वारा अनुष्ठित होनेपर उसे साधनभक्ति कहा गया है। भक्ति ही जीवका नित्यसिद्ध भाव है। तात्पर्य यह है कि चित्कण जीवमें स्वाभाविक रूपसे चित्-सूर्य श्रीकृष्णका जो आनन्दकण है, वह नित्यसिद्ध भाव ही साधनके द्वारा हृदयमें प्रकट होता है। इसी अवस्थामें नित्यसिद्ध वस्तुकी साध्य अवस्था प्रतिपन्न होती है। वही साध्यभावरूप भक्ति जब बद्धजीवोंके इन्द्रियोंसे साधित होती है, तब उसीको साधनभक्ति कहा जाता है। साधनभक्तिका लक्ष्य होता है—भावको उदय कराना। गुरुदेव दीक्षा देते समय श्रीभगवान्‌के साथ साधकका सम्बन्ध निर्देश करते हैं, भक्त उसी सम्बन्धमें रहकर दृढ़ भावसे साधना करता हुआ भाव भक्तिको प्राप्त कर लेता है और वही भावभक्ति परिपक्व दशामें प्रेमभक्ति कहलाती है। साधक भक्त गुरु द्वारा प्रदत्त श्रीराधाकी पाल्य-दासित्वकी अनुभूतिकर कृत्कृत्य होने लगता है। भक्तोंके प्रेमपर ही श्रीकृष्णकी प्रीति निर्भर करती है। साधनभक्तिसे तात्पर्य है—श्रद्धा, साधुसङ्ग, भजनानुष्ठान, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि एवं आसक्ति॥६९॥

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः

क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।

तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं

जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥७०॥

(पद्यावली १४)

हे सज्जनों! श्रीकृष्णभक्तिरस द्वारा भावित, सुवासित या सिक्त मति यदि किसी स्थान विशेषपर मिल जाय तो उसे तुरन्त खरीद लो। उसका मूल्य तो केवल ब्रजरस-प्राप्तिकी लालसा या लोभमात्र

है। श्रीकृष्णकी सेवाके लिए लोभके बिना तो श्रीकृष्ण भक्तिरस-भावित मति कोटि जन्मोंकी पुंजीभूत सुकृतिसे भी नहीं मिल सकती। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कह रहे हैं कि केवल एक मूल्य देकर यह कृष्णभक्तिरस-भावित मति खरीदी जा सकती है और वह मूल्य है—लोभ। भक्ति दो प्रकारकी होती है—प्रथम शास्त्र-अवधारणामयी वैधीभक्ति और द्वितीय लोभमूलक रागानुगाभक्ति। यहाँ रामानन्दजीका अभिप्राय रागानुगाभक्तिसे है। श्रील चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि श्रीकृष्णको सुखी करनेका एक ही उपाय है कृष्णभक्ति-भावित मति। जिसका सौभाग्य होता है, उसे ही रागानुगाभक्तिमें प्रवेश मिलता है।

श्रीकृष्ण अर्थात् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण तथा भक्ति अर्थात् भावभक्ति। भाव है प्रथम अवस्था और प्रेम है परिपक्व अवस्था। प्रेमभक्ति-रस-भाविता-मतिसे तात्पर्य है, ऐसी चित्तवृत्ति जिसके रग-रगमें कृष्णभक्तिरस प्रविष्ट हो और जो बुद्धि उस रसके साथ तादात्म्य प्राप्त कर चुकी हो। यह मति भी भगवत्-कृपासे ही प्राप्त होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

सतां प्रसंगान्ममवीर्य्यसंविदो

भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि

श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

(श्रीमद्भा. ३/२५/२५)

सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली वीर्यवती कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही भक्तिमार्गमें श्रद्धा, भाव और प्रेमभक्तिका क्रमशः विकास होता है। यह भक्तिभाव दो प्रकारसे प्राप्त होता है—भागवत (भक्त) प्रसादज एवं भगवत्-प्रसादज। भगवत्-कृपा भक्तकृपाकी अनुगामिनी होती है। यही कारण है कि स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण परम भागवत चैतन्य महाप्रभुके रूपमें कृपा-वारि-वर्षणके लिए अवतीर्ण हुए हैं।

श्रील नरोत्तम ठाकुरने श्रीलोकनाथ गोस्वामीसे प्रार्थना की है—हे गुरुदेव! आप मुझपर ऐसी कृपा कब करेंगे जो मुझे श्रील रूपगोस्वामीके चरणोंमें समर्पण करेंगे। श्रील नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं—

कबे लोकनाथ मोरे सङ्गे लइया जाबे।
श्रीरूपेर पादपद्मे मोरे समर्पिबे ॥

इसी प्रकार चैतन्यचरितामृतके समस्त अध्यायोंके अन्तमें कहा गया है—

श्रीरूप रघुनाथ पदे यार आश।
चैतन्य चरितामृत कहे कृष्णदास ॥

भगवान् भक्ति दे सकते हैं, सेवा-भाव नहीं, भक्त, भक्तिके साथ-साथ निज भाव एवं अनुभूतियोंको भी दे देते हैं। इन भावोंको ग्रहण करनेसे भक्तके लिए भक्ति दुर्लभ नहीं रह जाती। रसगुल्लेके कण-कणमें जिस प्रकार रस रहता है, वैसे ही व्रजरस-रसिक गुरु वैष्णवोंके रोम-रोममें प्रेमभक्तिरस आप्लावित होता रहता है। ये रसिक भक्त हर क्षण श्रीराधाकृष्णकी पावन-पवित्र रसमयी कथावार्ताओंका परिवेषण किया करते हैं। इनकी मति, रति, स्वभाव सब कुछ कृष्णकी रसमयी भक्तिसे परिपूर्ण रहता है। इन रसिकोंके संसर्गसे श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवाके लिए लोभ उत्पन्न होता है और उस लोभसे प्राण देकर भी भगवान्को प्राणाधिक प्रिय बना लिया जाता है। हम सबके हृदयमें प्रेमरस तो है, परन्तु सुप्तावस्थामें। रसमयी कथाओंके श्रवणसे वह जागृत हो जाता है। भक्त श्रवणके साथ ग्रन्थोंका अनुशीलन करता हुआ भक्ति भावमें विभोर हो जाता है ॥७०॥

प्रभु कहे,—“एहो हय, आगे कह आर।”
राय कहे,—“दास्य-प्रेम—सर्वसाध्यसार ॥” ७१ ॥

श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—यह तो ठीक है, इससे आगे और कुछ कहिए। तब श्रीरामानन्दने कहा—दास्यप्रेम सर्वसाध्यसार है।

सभी भक्तोंकी भक्ति एक-सी नहीं होती। उसमें तारतम्य रहता है। “जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्णदास।” इस दास्यभावमें भी तारतम्य निहित है। यथा स्वाती नक्षत्रका वर्षा-जल सीपमें गिरनेसे मुक्ता, केलेके वृक्षमें कर्पूर, हाथीके मस्तकपर गिरनेसे गजमुक्ता, गायके खुरोंपर गिरनेसे गोरोचना और बाँसपर गिरनेसे बंशलोचन बन जाता है। एक ही जलका आधार भिन्न-भिन्न होनेके कारण परिणाम भी भिन्न-भिन्न होता है। उसी प्रकार आम, नीम, इमली आदिके बीज, एक ही गङ्गाजलसे सींचनेपर, एक ही प्रकारके वातावरणमें रहनेपर भी भिन्न-भिन्न स्वादयुक्त फलदायक वृक्ष होते हैं। उसी प्रकार दास होनेपर भी सबका नित्य स्वरूप अलग-अलग है। उस दासत्वमें कृष्णसेवा-वासना अलग-अलग होनेसे सेवानन्द भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। श्रीगुरु-वैष्णवोंके आनुगत्यमें सेवा-परिचर्या-साधन करनेसे नित्य स्वरूप स्वयं प्रकट होता है। उससे पूर्व शुद्धसत्त्वका हृदयमें प्रकट होना आवश्यक है।

दास्यभावसे तात्पर्य है—श्रीभगवान् सेव्य हैं और मैं उनका सेवक हूँ, श्रीभगवान् प्रभु हैं और मैं उनका दास हूँ। इस दास्यभावको लेकर जो सेवा-वासना है, उसे दास्यप्रेम कहते हैं। प्रेम-लक्षणा भक्ति अर्थात् ममता संयुक्त दास्यभावरहित साधारण प्रेम भगवान्के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। प्रभुमें ममत्वकी वृद्धि होनेपर क्रमशः साधारण प्रेम दास्यप्रेममें परिणत हो जाता है। सभी लीलापरिकरोंमें, पूर्णतर दास्यभाव रहता ही है। यह भाव दास, सखा, वात्सल आदि भक्तोंमें पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम और मधुररसके भक्तोंमें परिपूर्णतम होता है। ब्रजकी दास्यभक्तिमें अधिकतर ममतायुक्त सख्य और वात्सल्यका मिश्रण रहता है। प्रेमकी सर्वविध वैचित्र्यमें दास्यसेवा द्वारा श्रीकृष्णकी प्रीति-उत्पादनकी वासना विद्यमान होती है। दास्यप्रेमकी उत्कर्षताके लिए राय रामानन्द श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकका उल्लेख कर रहे हैं—॥७१॥

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।

तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते ॥७२॥

(श्रीमद्भा. ९/५/१६)

ऋषि प्रवर दुर्वासाजी महाराज अम्बरीषसे कहते हैं—जिनके मङ्गलमय नामोंके श्रवणमात्रसे जीव निर्मल हो जाता है—उन्हीं तीर्थपद भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंके जो दास हैं, उनके लिए कौन-सी प्राप्य वस्तु शेष रह जाती है ॥७२॥

भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरः

प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः ।

कदाहमैकान्तिकनित्यकिङ्करः

प्रहर्षयिष्यामि स नाथ जीवितम् ॥७३॥

(यामुनमुनि विरचित स्त्रोतरत्न ४६)

हे नाथ! आपकी सेवा-वासनाके अतिरिक्त अन्यान्य सम्पूर्ण मनोरथोंको परित्यागकर आपका ऐकान्तिक-नित्य-किङ्कर होकर कब मैं अपने सनाथ-जीवनको आनन्दित करूँगा।

श्रीचक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि इन दोनों श्लोकोंसे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌के सेवकके लिए कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है। इनमें भक्तके द्वारा बस ऐकान्तिक नित्य कैङ्कर्य भावकी प्रार्थना की गई है। कृष्णसेवामें ही जीवनकी सार्थकता है। दास्यप्रेममें भी प्रेमभक्तिका वैशिष्ट्य छिपा हुआ है। दास्यरस वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका, मथुरा एवं व्रजमें निरन्तर प्रवाहित होता रहता है; परन्तु इन धामोंके सभी प्रकोष्ठोंमें एक विशेष प्रकारका तारतम्य है। ऐश्वर्य-परम्परामें वैकुण्ठसे अयोध्या, अयोध्यासे द्वारका और द्वारकासे व्रजमें आते-आते ऐश्वर्यभाव क्षीण होता जाता है अर्थात् वैकुण्ठके दास्यभक्तोंमें जो ऐश्वर्य है, वह व्रज तक आते-आते धूमिल हो जाता है। परन्तु प्रेम-माधुर्य और ममता अभिवर्द्धित होते जाते हैं। श्रीसनातन गोस्वामी बृहद्भागवतामृतमें कहते हैं कि व्रजके दास्यभक्तोंके मनको श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवाके अतिरिक्त कुछ भी आकर्षित नहीं कर सकता, जब कि

वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका एवं मथुराके दास्य भक्त व्रजवासी दास्यभक्तोंकी सेवा देखकर लालायित हो उठते हैं। ऐसा नहीं है कि व्रजमें ऐश्वर्य ही नहीं है, व्रजमें भी प्रचुर ऐश्वर्य है। श्रीगोवर्धनको सात दिनों तक एक हाथपर उठाये रखना, पूतना, अघासुर आदि असुरोंका बध करना, यशोदा माँको अपने मुखमें अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डका दर्शन कराना—ये ऐश्वर्यमयी लीलाएँ ही तो हैं। परन्तु व्रजमें उस ऐश्वर्यको या तो 'नारायणका बल', माया या 'पिशाचिनीका प्रभाव' समझा जाता है। जब कन्हैया अपने मुखमें माँको ब्रह्माण्डका दर्शन कराते हैं, तो माँ यशोदाको लगता है कि मेरे लालाको कोई पिशाचिनी लगी गई है और सर्वनियन्ता लालाकी रक्षा हेतु उन्हें गोबर, गोमूत्र इत्यादिसे स्नान कराया जाता है, ब्राह्मणों द्वारा रक्षा-मन्त्रोंका उच्चारण करवाया जाता है, यत्र-तत्र दान-दक्षिणा प्रदान की जाती है।

वस्तुतः दास्य-भावमें सदैव यह चिन्तन बना रहता है कि मैं क्या सेवा करूँ, कौन-सी सेवा करूँ? इसीलिए प्रस्तुत श्लोकमें दास भक्तोंके लिए 'किङ्कर' शब्दका उल्लेख किया गया है। वैसे भी जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि व्रजके दास्यभक्तोंमें शुद्ध दास्य होता ही नहीं, उसमें सख्य या वात्सल्यभाव मिश्रित रहता है। व्रजके दास्यभक्तोंका एक वैशिष्ट्य यह भी है कि उनमें अन्य स्थानोंके दासोंकी भाँति शुद्ध सम्भ्रम नहीं रहता। श्रीचक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि ऐश्वर्य भावापन्न दास्यभक्त सेवा-अपराधका विचार करते हैं—अतः प्रेमकी बाढ़ वहाँ नहीं होती। दास्यप्रेममें सेवाका सम्यक् विकास नहीं होता।

वैकुण्ठमें दास्यभक्त जय-विजयकी दासभावकी सेवा शुद्ध सम्भ्रममयी एवं विलक्षण है, परन्तु उनमें सम्भ्रमरहित विश्रम्भ सेवाकी भावना नहीं देखी जाती। योगमायाके द्वारा सम्पादित लीलामें जय-विजयने अपने प्रभुकी इच्छा-पूर्तिके लिए आसुरी योनिको तीन जन्मों तक स्वीकार किया और अपने प्रभुको सम्पूर्ण रूपसे वीररसका आस्वादन कराया। वे एक रूपसे वीररसका आस्वादन करा रहे थे और दूसरे स्वरूपसे वैकुण्ठमें सेवारत भी थे।

अयोध्याके सभी भक्तोंमें प्रायः दास्यभाव है, परन्तु इन दासोंमें हनुमानजी सर्वश्रेष्ठ हैं। हनुमानजी अपने प्रभुकी प्राणपणसे सेवा करते हैं, अपनी सेवातुरताके कारण अपने प्रभुके लिए निरन्तर पलक-पाँवड़े बिछाए रहते हैं। उनके रोम-रोममें राम हैं, उनकी साँसोंमें राम समाए हैं—उनका जीवन ही राममय है। जब अहिरावण छलकपटसे श्रीराम-लक्ष्मणकी बलि देनेके लिए उन्हें पातालमें ले आया, तब हनुमानजी उसका वहीं वधकर अपने प्रभुको अपने कन्धोंपर बिठाकर ले आए। परन्तु ब्रजके दास्यभक्तोंके समान वे अपने प्रभुको न तो गोदीमें ले सकते हैं, न ही उनका चुम्बन कर सकते हैं।

द्वारकाके दास्यभक्तोंको अयोध्याके दास्यभक्तोंसे श्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु इनमें भी सख्यताकी गन्ध भी नहीं होती। श्रीमन्महाप्रभु सोच रहे हैं कि रामानन्द अब अभिलषित साध्यतत्त्वके समीप ही हैं। अतः बोले— ॥७३॥

प्रभु कहे,—“एहो हय, किछु आगे आर।”

राय कहे,—“सख्य-प्रेम—सर्वसाध्य सार॥” ७४ ॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—दास्यप्रेम साध्य है, आपका यह कथन ठीक है; परन्तु इससे आगे और कुछ बतलाइए। श्रीराय रामानन्दने कहा ‘सख्यप्रेम’ ही सर्वसाध्यसार है।

जो भक्त प्रेमकी अधिकतामें श्रीकृष्णको अपने समान समझते हैं “खेलतमें को काको गुसैयाँ” (खेलनेमें कौन किसका स्वामी है) किसी भी प्रकार श्रीकृष्णको अपनेसे श्रेष्ठ नहीं मानते, वे श्रीकृष्णके सखा कहे जाते हैं। श्रीकृष्णके भावानुकूल सेवा-वासनाका नाम ही सख्यप्रेम है। शान्तकी निष्ठा, दास्यभावकी ममतायुक्त सेवा और सख्यभावकी विश्रम्भ सेवा इस सख्यप्रेममें विद्यमान है। तुलनात्मक दृष्टिसे दास्यप्रेममें ममता होनेपर भी यह सम्भ्रम बना रहता है कि वे प्रभु हैं—मैं उनका सेवक हूँ और श्रीकृष्णमें भी प्रभुता बनी रहती है। वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका, मथुरा आदिमें सभी सखागण श्रीकृष्ण और श्रीरामको भगवान् मानते हैं। जब कि ब्रजके सख्यप्रेममें भक्तका यह विश्रम्भ भाव रहता है कि कृष्ण मेरे समान ही एक गोप बालक है,

वह किसी भी प्रकार मुझसे श्रेष्ठ नहीं, हम बराबरीके गोप बालक और सखा हैं। और भी वह जो भी करेगा वही श्रीकृष्णको प्रीति कर ही होगा। खानेपर कोई वस्तु यदि सखाको स्वादिष्ट लगती है, तो वह अपनी उच्छिष्ट वस्तु श्रीकृष्णके मुखमें डालकर कहते हैं कि “कन्हैया! खाकर देख, कितनी स्वादिष्ट पकौड़ी है।” उच्छिष्ट खिलानेमें संकोच नहीं करते। दास्यका भय, संकोच एवं गौरव यहाँ निरस्त रहता है। ‘सम’ भाव रहता है। सख्यप्रेम तो विश्रम्भ अर्थात् एकान्त विश्वसनीय प्रीतिको ही वरण करता है। इस प्रेममें श्रीकृष्ण एवं तदीय भक्तोंके बीच ममत्व बुद्धि होती है। पाण्डु पुत्र अर्जुनादि नित्य परिकर होते हुए भी उनकी श्रीकृष्णमें ऐश्वर्यात्मिका सख्यरति है, किन्तु व्रजमें सुबल-मधुमङ्गलादिकी माधुर्यात्मिका सख्यरति है। श्रीमान् राय रामानन्दजी श्रीमद्भागवतसे प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं— ॥७४॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या,
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण
सार्द्धं विजहुः कृतपुण्यपुंजाः ॥७५॥

(श्रीमद्भा. १०/१२/११)

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितसे कहते हैं—जो ज्ञानियोंके निकट ब्रह्म-सुखानुभूतिके रूपमें, दास्यरसके भक्तोंके निकट परमाराध्य देवताके रूपमें एवं मायाश्रित लोगोंके निकट नरबालकके रूपमें प्रकाशित होते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके साथ अतिशय सौभाग्यशाली व्रजके गोप-बालकगण सुकृति-पुंजके फलस्वरूप सख्यरसमें विहार कर रहे थे।

साधक तीन प्रकारके होते हैं—ज्ञानी, कर्मी एवं भक्त। अपनी-अपनी साधनाओंके अनुसार ये साधक श्रीकृष्णको भिन्न-भिन्न रूपमें अनुभव करते हैं। आलोच्य श्लोकमें इन साधकोंकी अनुभूतियोंको प्रस्तुतकर सख्यभावापन्न व्रजबालकोंके सौभाग्यकी प्रशंसा कर रहे हैं।

सतां—ज्ञानी जन भक्तिकी सहायतासे ज्ञानमार्गसे भगवान्‌की उपासना करते हैं। भक्तिके बिना ज्ञानी साधकोंको ज्ञान-प्राप्ति असम्भव है। अतः वे ज्ञान-सिद्धिके लिए भक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं। इसलिए यहाँ 'सतां' शब्दसे भक्तियुक्त ज्ञानमार्गके उपासकोंको ही समझना चाहिए।

ब्रह्मसुखानुभूत्या—ज्ञानीगण निर्विशेष ब्रह्मको परतत्त्व रूपमें उपासनाकर सायुज्यकी कामना करते हैं। सिद्ध होनेपर श्रीकृष्णके अङ्गोंकी कान्तिस्वरूप निर्विशेष ब्रह्म-सुखका ही अनुभव करते हैं। निर्विशेष ब्रह्मके साथ ज्ञानियोंका क्रीड़ा करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

दास्यं गतानां—जो भक्त श्रीकृष्णकी दास्यभावसे उपासना करते हैं, उनकी श्रीकृष्णके प्रति गौरवबुद्धि होती है। वे श्रीकृष्णको परदेवता, इष्टदेवता अथवा परमाराध्य देवताके रूपमें भजन करते हैं। गौरव एवं सम्भ्रमके कारण न तो वे श्रीकृष्णके साथ खेलते हैं और न ही अन्य क्रीड़ाएँ कर पाते हैं।

मायाश्रितानां—मायाबद्ध कर्मी जीव भगवान् श्रीकृष्णको नरबालकमात्र मानते हैं। न तो ये मायाश्रितजन श्रीकृष्णका भजन करते हैं और न ही उनसे प्रीति रखते हैं। खेलना-कूदना तो बहुत दूरकी बात है, ये श्रीकृष्णका किसी भी रूपमें अनुभव नहीं कर सकते।

कृतपुण्यपुञ्जा—पुञ्जीभूत पुण्य हैं जिनके, वे व्रजके सख्यभावापन्न गोप-बालक। श्रील सरस्वती प्रभुपाद प्रस्तुत श्लोककी टीकामें कहते हैं कि इस श्लोकमें वन भोजनार्थ श्रीकृष्णके साथ बहिर्गत विश्रम्भ प्रेमसूत्रमें आबद्ध व्रजके सखाओंके सौभाग्यातिशयका वर्णन किया गया है। इन्हीं व्रजसखाओंके लिए कृतपुण्यपुञ्जा कहा गया है। यहाँ ज्ञानी, कर्मी अथवा योगी किसी भी स्थितिमें श्रीकृष्णके साथ न खा-पी सकते हैं और न ही खेल सकते हैं। वहीं इन सखाओंका इतना सौभाग्याधिक्य है, कि वे श्रीकृष्णके कन्धेपर बैठते हैं और उन्हें भी अपने कन्धेपर बैठाते हैं। श्रीसनातन गोस्वामीपाद कहते हैं—“कृतानां चरितानां भगवतः परम-प्रसाद-हेतुत्वेन पुण्याश्चारवः पुञ्जा येषां ते

इत्यर्थः।” कृत अर्थात् सखाओंका चरित या आचरण। पुण्य अर्थात् मनोहर। सखाओंका आचरण ही श्रीकृष्णके परम प्रसादका हेतु होनेके कारण पुण्यपुञ्ज अर्थात् चारु या मनोहर कहा गया है। पुञ्जका अर्थ होता है ‘समूह’। व्रजके सखाओंकी श्रीकृष्णके प्रति प्रेमजनित परिपक्व ममत्व बुद्धि होती है।

इत्थं—इस प्रकार प्रेमसे सराबोर (द्रष्टव्य श्रीमद्भागवत १०/१२/४-१०) अर्थात् सखाओंके द्वारा पुष्प-पत्रादिसे सजना-सजाना, परस्पर वेणु-वेत्रका हरण करना, किसी कारणसे श्रीकृष्णके दूर चले जानेपर उन्हें पकड़नेके लिए भागा-दौड़ी करना, सखाओंके साथ वेणु, शृङ्गादिके द्वारा भ्रमर-मयूरादिकी बोलीका अनुकरण करना, मयूरके साथ नृत्य करना, यमुनाके तटपर बककी भाँति बैठ जाना, उनकी मुख-आकृतिके अनुसार अपना मुख बनाना, मेढ़कोंकी भाँति फुदकना, अपनी छायाके साथ स्पर्धा करना इत्यादि अति मनोहर क्रीड़ाएँ किया करते हैं। सखाओंका विश्रम्भपूर्ण मन्तव्य होता है—“तुमि कोन बड़ लोक तुमि आमि सम” (चै. च. आ. ४/२५)।

अरे ओ कन्हैया! क्या तू अपनेको बहुत बड़ा समझता है, अरे तू जानता नहीं, तेरे बाबाके नौ लाख गायें हैं, तो मेरे बाबाके यहाँ ग्यारह लाख गायें हैं। इसी प्रकार यदि कृष्ण सो रहे होते हैं तो ग्वालबाल उस समय पहुँच जाते हैं, तो पूछते हैं—मैया! कन्हैया कहाँ है? क्या कर रहा है? माँ यशोदा कहती—“अभी सो रहा है—जगाना मत”—यह कहनेसे पहले ही सारे सखा उनकी शैय्यापर चढ़कर उन्हें जगा देते हैं और कहने लगते हैं—कन्हैया! तू अभी तक सो रहा है, देख गौ-चारणका समय निकला जा रहा है। यही विश्रम्भ सख्यके समभावका प्रतीक है। सखा तो द्वारकामें अर्जुन आदि भी हैं, पर वे ऐसा कभी नहीं कर सकते। श्रीकृष्ण जैसे ही अपना विराट स्वरूप दिखलाते हैं, अर्जुन काँप जाते हैं, हाथ जोड़ने लगते हैं। इसी प्रकार अयोध्यामें सुग्रीव, विभीषण, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न सखा और भाई होनेपर भी श्रीरामके साथ ऐसा कभी नहीं कर सकते। भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न श्रीरामके साथ एक आसनपर भी नहीं बैठ सकते, श्रीरामके प्रति सम्भ्रम एवं गौरवबुद्धिके कारण उनमें व्रजके

सखाओं जैसा आत्मीयतापूर्ण विश्रम्भ भाव सम्भव ही नहीं है। ब्रजमें सख्य है, प्रीति है, ममता है, माधुर्य है।

कान्धे चढ़े, कान्धे चढ़ाय, करे क्रीडारण।
कृष्णे सेवे, कृष्णे कराय आपन सेवन॥
विश्रम्भ प्रधान सख्य—गौरव—सम्भ्रम—हीन।
अतएव सख्य रसेर 'तिन' गुण—चिह्न॥
'ममता' अधिक, कृष्णे आत्मसम ज्ञान।
अतएव सख्यरसेर वश भगवान्॥

(चै. च. म. १९/२२३-२२५)

ब्रजके गोपबालकोंको किसी पुण्य अथवा साधनके फलसे यह अधिकार नहीं मिला—ये तो नित्यसिद्ध परिकर हैं और अनादिकालसे ही श्रीकृष्णके साथ नित्य विहार करते हैं। स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ही सख्यरसके आस्वादनके निमित्त समस्त सखाओंके रूपमें अनादिकालसे ही अपनेको ही प्रकटित किए हुए हैं। सभी सखा स्वरूपशक्तिके मूर्तरूप हैं। सेवा वासना जिस चरम-अवस्था तक विकसित होगी, उतनी ही सेव्य-वस्तु (साध्य) भी विकसित होती जाएगी। स्वातन्त्र्यमयी सेवामें नित्य-परिकरोंकी सेवाका सम्यक् विकास है, जब कि आनुगत्यमयी सेवामें अनुगति ही विकसित है॥७५॥

प्रभु कहे—“एहो उत्तम, आगे कह आर।”

राय कहे,—“वात्सल्य-प्रेम—सर्वसाध्यसार॥”७६॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—रामानन्दजी! यह तो उत्तम है, परन्तु इससे आगे कुछ और कहिए। राय रामानन्दने कहा 'वात्सल्यप्रेम' ही सर्वसाध्यसार है।

प्रस्तुत कारिकाकी टीकामें श्रीभक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—सख्यरस दास्यरसकी अपेक्षा उत्तम है, परन्तु कुछ आगे बढ़नेपर इससे भी श्रेष्ठ साध्य पाया जा सकता है। रायजीने कहा—वात्सल्यप्रेम ही साध्यसार है। श्रील सरस्वती प्रभुपादजी इसी आशयको इन शब्दोंमें कहते हैं—श्रीमन्महाप्रभु राय रामानन्दसे सख्यप्रेमको साध्य-निर्णय श्रवणकर

कहते हैं कि दास्यप्रेमसे सख्यप्रेम श्रेष्ठ है और जब श्रीमन्महाप्रभु उनसे और भी आगे बढ़नेका अनुरोध करते हैं, तब वे वात्सल्यप्रेमका वर्णन करते हैं।

इससे पहले तो श्रीमन्महाप्रभुने साध्यको “एहो हय” कहते आ रहे थे, परन्तु यहाँ उन्होंने “एहो उत्तम” कहा। सख्यरससे पूर्व तक का जो-जो शास्त्र-प्रमाण उल्लिखित हुआ है, मुख्यतः साधक जीवकोटिका था, परन्तु यहाँपर नित्यसिद्ध-परिकरकी विवेचना आरम्भ हो जाती है। शान्त एवं दास्यभक्त भगवान्‌के अधीन होते हैं, परन्तु सख्यरससे भगवान्‌ भक्तके अधीन होने लगते हैं। नित्यसिद्ध-परिकरोंमें माता-पिताके रूपमें जो परिकर स्वयंको श्रीकृष्णसे बड़ा मानते हैं और श्रीकृष्णको अपना लाल्य या अनुग्रहका पात्र समझते हैं—उनके इसी लाल्य-भावको वात्सल्यप्रेम कहा जाता है। इसमें सख्यरससे भी अधिक ममता होती है। वात्सल्यमें शान्तकी निष्ठा, दास्यकी सेवा और सख्यका निःसंकोच सख्यभाव तो रहता ही है, अधिकन्तु श्रीकृष्णको पाल्य और अपनेमें पालकका ज्ञान भी रहता है, जो ताड़न-भर्त्सन-बन्धन तक भी पहुँच जाता है।

वात्सल्ये शान्तेर गुण, दास्येर सेवन ।
 सेइ सेइ सेवनेर ईहा नाम—‘पालन’ ॥
 सख्येर गुण—‘असंकोच’, ‘अगौरव’ सार ।
 ममताधिक्ये ताड़न-भर्त्सन-व्यवहार ॥
 आपनारे ‘पालक’ ज्ञान, कृष्णे ‘पाल्य’-ज्ञान ।
 चारि गुणे वात्सल्य रस—अमृत-समान ॥
 से अमृतानन्दे भक्त सह डूबेन आपने ।
 ‘कृष्ण—भक्तवश’ गुण कहे ऐश्वर्य-ज्ञानिगणे ॥

(चै. च. म. १९/२२५-२२८)

नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ।
 यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥७७॥

(श्रीमद्भा. १०/८/४६)

श्रीपरीक्षित् महाराज शुकदेवजीसे पूछते हैं—नन्दबाबाने ऐसा कौन-सा सुकृतिमय मङ्गलपुण्य किया था, जिससे श्रीकृष्णने उनका पुत्र बनना स्वीकार कर लिया और यशोदाने भी ऐसी कौन-सी पुण्यमयी सुकृति की, जिसके कारण साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्णने उस महाभागाका स्तन-पान किया। श्रीराय रामानन्दने श्रीमद्भागवतसे ही एक श्लोक और प्रस्तुत किया ॥७७॥

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।

प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥७८॥

(श्रीमद्भा. १०/९/२०)

श्रीशुकदेवजी श्रीपरीक्षित्जीसे कहते हैं—हे राजर्षि! गोपी यशोदाने मुक्तिदाता श्रीकृष्णसे जो प्रसाद प्राप्त किया, वह प्रसाद न तो ब्रह्माको, न शिवको और न ही विष्णुकी वक्षस्थलाश्रया लक्ष्मीको ही प्राप्त हो सका।

प्रस्तुत श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्णके वात्सल्यभावके द्वारा वशीभूत होनेका उल्लेख है। सर्वैश्वर्य पूर्ण स्वयंभगवान् होनेपर भी श्रीकृष्णने माँ यशोदाके बन्धनको स्वीकार किया था—केवल यशोदाके प्रेमके वशीभूत होकर। जो विभु वस्तु हैं, जिनका बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे कुछ भी नहीं—उसे कौन बाँध सकता है? परन्तु ममताबुद्धिकी अत्यधिकतासे श्रीकृष्णको अपना लाल्य और अपनेको लालक-पालक समझकर पुत्र कृष्णके मङ्गलके लिए उसे बाँध दिया। नहीं, वात्सल्यप्रेम द्वारा स्वयं बाँध गए। यही यशोदाके प्रति उनका अनुग्रह है। वैसा अनुग्रह किसीने कभी भी प्राप्त नहीं किया। यहाँ तक कि पुत्र होनेपर भी ब्रह्मा, आत्मभूत होकर भी महादेव और वक्षस्थलपर निवास करनेवाली स्वयं लक्ष्मीदेवी भी प्राप्त न कर सकीं। भगवान्ने कहा है कि मैं भक्तके सर्वदा पराधीन हूँ—“अहं भक्तपराधीनः।” यह दामबन्धन लीला भक्तवश्यताकी पराकाष्ठाका निदर्शन है।

नन्दरायजीकी और यशोदाकी सुकृतिके सम्बन्धमें आचार्यचरण कहते हैं कि नन्द और यशोदा तो नित्यसिद्ध परिकर हैं। तपस्या तो

श्रीद्रोण एवं धराके द्वारा की गई थी, जो क्रमशः नन्द एवं यशोदाके अंश हैं। ब्रह्माजीसे इन्होंने भगवत्-सम्बन्धी वात्सल्यप्रेम माँगा था। ब्रह्माजी यह जानते थे कि ये नन्द और यशोदाके अंश हैं। अतः श्रीकृष्णका स्नेह-पात्र बननेकी लालसासे उन्होंने उन दोनोंको “तथास्तु” कह दिया था। जिसमें स्वयं ब्रजप्रेम नहीं, वह क्या ब्रजप्रेमका आशिष देगा। प्रश्न उठता है, जो नन्द बाबा और माँ यशोदा सिद्ध परिकर हैं, श्रीकृष्णके नित्य पिता-माता हैं, उन्हें फिर तपस्याकी क्या आवश्यकता आ पड़ी? योगमाया द्वारा सम्पन्न नरवत् लीलामें यह सब विहित होता है। ब्रह्माजी जानते थे कि यह श्रीकृष्णकी नरलीलाके प्राकट्यका उपक्रममात्र है। यह भी ज्ञातव्य है कि जिस समय द्रोण-धराने यह वरदान माँगा था, उस समय ऐश्वर्य-ज्ञानभक्तिमें विश्वास करनेवाला मुनि समुदाय वहीं बैठा था। अतः प्रत्यक्ष रूपसे पराभक्तिका वरदान माँगा तो वही स्वतः अन्तर-वात्सल्यप्रेममें परिणत हो गया। वस्तुतः ब्रह्माजीके वरदानसे कोई भी श्रीकृष्णका माता-पिता नहीं बन सकता। यह सिद्धान्त है कि जब अंशी जगतमें अवतीर्ण होते हैं, तब अंश उसमें मिल जाते हैं। ब्रह्माजीके द्वारा आश्वासित वचन “तथास्तु” इसी आशयका संकेत कर रहा है। श्रीनन्द यशोदाजीकी बात तो बहुत दूर की है, जो स्वयं ब्रजमें किसी भी खग-मृग-पशु-पक्षी, लता-पताकी योनि प्राप्त करना चाहता है अथवा ब्रजके किसी व्यक्तिकी चरणधूलिकी उपलब्धिमें ही अपनी कृतार्थता मानता है। वह दूसरेको इसका वरदान कैसे कर सकता है? यथा—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा. १०/१४/३४)

जिस प्रकार श्रीनन्द-यशोदा भगवान् श्रीकृष्णके अनादिसिद्ध परिकर हैं, उसी प्रकार उनका वात्सल्यप्रेम भी अनादि-सिद्ध है। प्रश्न उठता है कि यदि तपस्या आदि साधनसे वात्सल्यप्रेम प्राप्त नहीं हो

सकता, तब तो वात्सल्य भावोंके उपासकोंकी साधना व्यर्थ है, ऐसा नहीं है। नन्द-यशोदाके आनुगत्यमें वात्सल्यभाव श्रीकृष्णसेवा अवश्य मिलती है, परन्तु नन्द-यशोदा नहीं बन सकते।

इसी सन्दर्भमें यह प्रसङ्ग भी उल्लेखनीय है कि नन्दरायजी पाँच भाई थे, जिनमें सबसे बड़े उपानन्द थे। उनके पिता पर्जन्यकी उपानन्दको ही राजा बनाने की इच्छा थी, परन्तु उपानन्दने कहा कि न तो मैं राजा बनने योग्य हूँ और न ही मुझमें राजा बननेकी सामर्थ्य है—इसकी योग्यता तो नन्दमें ही है। यह सुनकर पर्जन्य बड़े प्रसन्न हुए और ब्रजके राजा नन्द घोषित हुए। सभी लोगोंने भी पर्जन्यकी घोषणाका अभिनन्दन किया। इधर नन्द तो सर्वथा विरक्त थे, निःसन्तान भी थे, परन्तु जैसे ही घरमें कृष्णने जन्म लिया, उनकी विरक्ति आसक्तिमें परिणत हो गई। घर एवं राज्यकी सम्पूर्ण सामग्री लालाके उपभोगके लिए है। अतः पति-पत्नी सदैव यही यत्न करते कि लालाके पालनमें कोई कमी न रह जाए। लालाको ताजा नवनीत खिलाना, गोदीमें बिठाकर दुलार करना, प्रेमवश उनका ताड़न करना, दामबन्धन करना इत्यादि क्रियाओंमें दोनों संलग्न रहते थे। जब यह पता चला कि वृषभानुकी बेटी राधाको दुर्वासा ऋषिका यह वरदान प्राप्त है कि जो भी बेटी राधाके हस्तकमलोंसे बना प्रसाद पाएगा, वह आरोग्यवान एवं आयुष्मान होगा, तो राधाको अपने महलोंमें बड़े सम्मानसे बुलवाते और उनके हाथोंसे बना प्रसाद कृष्ण आरोगते। जब राधाका विवाह हो गया तो भी माँ यशोदा उनकी सास जटिलाकी हा-हा-खाती, भेंट सामग्री भिजवाती और राधाको बुलवा लेती। नन्द-यशोदा राधाको इतना ही लाड़-प्यार करते जितना कि कृष्णको। यही तो नन्द बाबा और माँ यशोदाके वात्सल्यका महान वैशिष्ट्य है। और भी—

“श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भव-भीताः”—इत्यादि भावोंसे ऋषियों, मुनियों और स्वयं नारदजीने नन्द-यशोदाकी स्तव-स्तुति की है। अपनी अगणित लीलाओंमें श्रीकृष्ण कहीं नहीं बँधे—जब वे शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर गए थे, तब दुर्योधनने उन्हें पाशमें बाँधनेका प्रयत्न किया था, परन्तु श्रीकृष्णका विराट विश्वरूप

देख कर वह स्वयं तथा सारे सभासद भयभीत हो गए। देवकी, कौशल्यादिके द्वारा भी भगवान्‌का बन्धन दिखाई नहीं देता। किन्तु माँ यशोदाके हाथोंसे रस्सीसे उनका बँध जाना यह सूचित करता है कि नन्द-यशोदा जैसा लौकिक सद्बन्धुवत् सम्बन्ध कहीं भी नहीं है।

मूल अंशी, विभूतत्त्व भगवान् श्रीकृष्णने परिपक्वतम वात्सल्यप्रेमके वशीभूत होकर उस बन्धनको स्वीकार कर लिया और स्वीकारकर परम आनन्दका अनुभव किया। वे स्वयं भी तो वात्सल्यरस लोलुप हैं, अतः मातृत्व अभिमानिनी यशोदाको इस ऐश्वर्य-माधुर्यमयी लीला ने अति सौभाग्यवती बना दिया।

जब श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते हैं, उस समय नन्द बाबा और यशोदा मैयाकी विरह-व्यथाका वर्णन करना सम्भव नहीं है। यशोदा तो जैसे लकड़ी ही बन गई थी। बाबाने बातचीत करना ही नहीं, बल्कि महलसे बाहर निकलना ही बन्द कर दिया था। अपने पुत्रके स्मरणमें डकर-डकर कर रोते रहते थे। वात्सल्यके अगाध-अथाह समुद्रमें डूबकर श्रीकृष्णको ढूँढ़ते रहते थे। हर क्षण मथुराभिमुख होकर प्रतीक्षा किया करते “अब आता होगा, अब आता होगा।” जब उद्धव आकर उन्हें सान्त्वना देते, तब उनकी विरह-व्यथा और भी सौगुनी बढ़ जाती। उद्धव कहते—नन्दजी किञ्चित् बाहर भ्रमण कर आइए, कुछ मन बदल जाएगा। तब नन्द कहते—उद्धव! बतलाओ कहाँ जाऊँ? जहाँ भी जाता हूँ, कन्हैयाका स्मरण मुझे और विकल कर देता है, हर उद्दीपन मुझे शूलकी तरह चुभने लगता है। मेरी तड़फन और बढ़ जाती है, परन्तु प्राण पखेरू नहीं उड़ते। उद्धव कहते हैं—नन्दजी! आपका लाला तो साक्षात् भगवान् है। यह सुनकर नन्दजी बोले—उद्धव! मैं सोचता था, तुम अति बुद्धिमान हो, परन्तु ऐसा नहीं है। उद्धव! तुम्हें भगवान्‌के लक्षण मालुम नहीं। क्या भगवान्‌को कभी भूख लगती है। अरे! उसकी मैयाको माखनका लौना लानेमें जरा भी देरी हो जाती तो वह घरकी सारी मट्टकियोंको फोड़ डालता। क्या भगवान् कभी घर-घरमें चोरी करते हैं, वह तो ब्रजमें सर्वत्र चोरी करता घूमता। बेटे उद्धव! देखो, पिता तो वास्तवमें महाराज दशरथ थे, रामके वन जानेके उपरान्त एक क्षण भी नहीं

रुके, तुरन्त ही प्राण पखेरू उड़ गए। लेकिन उद्धव! मैं दशरथजीके समान मरना नहीं चाहता, कन्हैया कह गया है कि “मैं अवश्य आऊँगा।” वह अवश्य ही आएगा। यदि मैं मर गया, तो जब वह ब्रजमें आएगा और मुझे न देखकर अपनी मैयासे पूछेगा और जब मैया कहेगी, लाला! तेरे बाबा पधार गए हैं, तब वह बहुत दुःखी हो जाएगा। मैं जहाँ-कहीं भी रहूँगा—उसके दुःखसे और दुःखी हो जाऊँगा। हम अपना दुःख सह लेंगे, परन्तु उद्धव! अपने लालाका दुःख हमसे देखा नहीं जाएगा। नन्द-यशोदाका वात्सल्य महान तत्त्वज्ञानी उद्धवकी समझसे बाहरकी बात है। उद्धव अवाक् रह जाते हैं। जबसे कृष्ण मथुरा गए हैं, तबसे एक भी दिन घरमें भोजन नहीं बना, किसके लिए बनता? बर्तन औंधेमुँह पड़े रहें, चूल्हेके ऊपर मकड़ीके जाले पड़ गए। वात्सल्यका ऐसा माधुर्य और ऐसी लीलाएँ—यशोदाकी छड़ी देखते ही श्रीकृष्णकी भगवत्ता और सम्पूर्ण ऐश्वर्य न जाने कहाँ चला जाता है? यशोदा उनके मुखमें मिट्टी-भक्षण लीलाके अवसरपर चराचर विश्वके दर्शनको पिशाचिनीका कृत्य मानकर उन्हें पुत्र भावमें ही और भी अधिक दुलारती हैं। श्रुतियाँ आज तक भी इन ब्रजवासियोंकी चरणधूलिका अनुसन्धान कर रही हैं ॥७८॥

प्रभु कहे—“एहो उत्तम, आगे कह आर।”

राय कहे,—“कान्तभाव—प्रेमसाध्यसार ॥” ७९ ॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—यह वात्सल्यप्रेम उत्तम है, पर आगे कुछ और कहिए, तब राय रामानन्दने कहा—कान्ताप्रेम ही सर्वसाध्यसार है।

जहाँ श्रीकृष्णको अपना प्राणवल्लभ और स्वयंको उनकी उपभोग्या कान्ता जानकर अपने सारे सुख-भोगको त्यागकर एकमात्र श्रीकृष्णसुखैक तात्पर्यमयी जो सम्भोग-लालसा है—वही ‘कान्ताप्रेम’ है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि वात्सल्यप्रेम तो उत्तम है, यह ठीक है, परन्तु इससे भी ऊपर एक और रस है, जिसे साध्यसार कहा गया है। यह रस है कान्ताभाव जो प्रेमकी पराकाष्ठा रूप साध्योंका सार है। साधारण प्रेममें ममताका अभाव, दास्यमें विश्रम्भ या

विश्वासका अभाव, सख्यमें स्नेहाधिक्यका अभाव और वात्सल्यरसमें निःसंकोच भावका अभाव होनेके कारण प्रेमकी पूर्णता तत्-तत् रसोंमें नहीं होती। जब श्रीकृष्णके प्रति कान्ताभाव हृदयमें उदित हो जाता है, तब सारे अभावोंका अभाव हो जाता है अर्थात् सारे अभाव पूर्ण हो जाते हैं, और अखण्ड प्रेमतत्त्वका स्रोत अर्हनिश बहने लगता है, जो सर्वसाध्यसार कहा गया।

श्रील सरस्वती प्रभुपादजी कह रहे हैं कि सख्यप्रेमकी अपेक्षा वात्सल्य उत्तम है, किन्तु वे रामानन्दजीसे और आगे श्रवण करना चाहते हैं। अतः उन्हींके द्वारा अभिलषित अभिप्रायको अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने समस्त साध्योंका सार कान्ताभाव बताया। यह भी उल्लेखनीय है कि कान्ताभावसे यहाँ तात्पर्य परकीयाभावयुक्ता ब्रजगोपियोंके भावसे है, क्योंकि भावसे महाभाव तक इसी कान्ताभावसे पहुँचा जा सकता है। वात्सल्यकी परिणति अनुराग तक ही है। कान्ताभावमें निज अङ्गोंसे श्रीकृष्णकी सर्वतोभावेन सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है। इसमें सेवा-वासनाका अतिशय रूपसे विकास है।

मधुर रसे—कृष्णनिष्ठा, सेवा अतिशय।
 सख्येर असंकोच, लालन-ममताधिक्य हय॥
 कान्तभावे निजाङ्ग दिया करेन सेवन।
 अतएव मधुर-रसेर हय 'पञ्च' गुण॥
 आकाशादि गुण येन पर पर भूते।
 एक-दुइ-तिन-चारि क्रमे पञ्च पृथिवीते॥
 एइमत मधुरे सब भाव-समाहार।
 अतएव आस्वादाधिक्ये करे चमत्कार॥

(चै. च. म. १९/२३०-२३३)

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
 स्वयौषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ—

लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम् ॥८०॥

(श्रीमद्भा. १०/४७/६०)

रासोत्सवमें भगवान् श्रीकृष्णने इन ब्रजाङ्गनाओंको अपनी भुजलताओं द्वारा आलिङ्गनकर इनके सम्पूर्ण मनोरथोंको पूर्ण किया। इनको भगवान् द्वारा जो प्रसाद वितरित किया गया, वह भगवान्की नित्यसंगिनी वक्षस्थलपर विराजमान प्रेमवती लक्ष्मीजीको भी प्राप्त नहीं हुआ। कमलके समान सुगन्ध और कान्तिवाली देवाङ्गनाएँ भी इसे प्राप्त नहीं कर सकीं, तब अन्यान्य कान्ताओंकी बात ही क्या? प्रस्तुत श्लोककी व्याख्या निम्न प्रकारसे कर सकते हैं।

रासोत्सवे—रासलीलाके उत्सवमें। यहाँ 'उत्सव' शब्दका विशेष अभिप्राय है, जिस लीलामें गोपियाँ श्रीकृष्णको पूर्ण सुख प्रदानकर प्रफुल्लित होती हैं—वही उत्सव है। रासलीलामें सम्पूर्ण प्रकारकी लीलाओंका समावेश होता है। रास 'रस' से उत्पन्न होता है। रस अर्थात् आनन्दके धरातलपर।

भुजदण्डगृहीत कण्ठ लब्धाशिषां—भुजदण्ड अर्थात् दण्डके समान सुगोल एवं क्रमशः सुरूपता प्राप्त सुन्दर भुजाएँ—जिनके द्वारा गोपियोंका सुकण्ठ आलिङ्गित है और गोपियाँ पूर्णमनोरथा हो रही हैं।

यहाँ गोस्वामीचरणोंका मन्तव्य है, रसिकशेखर श्रीकृष्ण निज सुन्दर, सुललित, सुललाम, अभिराम, सुकोमल, सौम्य, सुशीतल भुजाओंको गोपियोंके त्रिवलीयुक्त शंखाकृति गलेमें डालकर मानों प्रीति सहित झूल रहे हैं और उनसे अपने मनोरथोंको पूर्ण करनेकी याचना कर रहे हैं। हे गोपियो! रस—अथाह प्रेम—जलधिमें तुम मुझे छोड़कर कहीं चली मत जाना, नहीं तो मैं न जाने कहाँका कहाँ बह जाऊँगा। प्रेम रसमें मैं निमग्न हो गया हूँ—मेरे बचनेका तुम ही एकमात्र सहारा हो।

प्रसाद—प्रसाद अर्थात् अनुग्रह। गोपियोंने निज अङ्गोंसे श्रीकृष्णकी सेवाकर उनसे अनुग्रहके रूपमें जो अधिकार प्राप्त किया। अधिकार

अर्थात् श्रीकृष्णका अङ्ग-सङ्गजनित परम सुख, वह अधिकार लक्ष्मीको भी प्राप्त नहीं हुआ—फिर स्वर्गस्थ अप्सराओं या देवाङ्गनाओंकी तो बात ही क्या?

अङ्गे—अङ्गे अर्थात् वक्षस्थलपर विराजमान स्वर्ण रेखा। यह स्वर्ण रेखा ही वह प्रेयसी लक्ष्मी हैं, जो श्रीकृष्णके वैभवस्वरूप श्रीनारायणके वक्षस्थलपर सदैव विराजमान रहती हैं।

नितान्तरतेः—अर्थात् श्रीकृष्णमें जिनकी अत्यन्त गाढ़ रति है। रासोत्सवमें श्रीकृष्णके साथ गोपियोंके सौभाग्यको देखकर लक्ष्मीको भी रासमें सम्मिलित होनेका लोभ हुआ था। तदर्थ तपस्या की, परन्तु आज भी अपूर्ण मनोरथा हैं।

श्रियः—अर्थात् लक्ष्मीको भी व्रजसुन्दरियों जैसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

नायं—अयं पद लक्ष्मी वाचक भी है, साथ ही द्वारकाकी महिषियोंको भी यह अभिलक्ष्य करता है। लक्ष-लक्ष अभिलाषाएँ करनेपर भी इन्हें श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके चरणोंमें रति प्राप्त नहीं है। नारायण और कृष्णका रसगत वैशिष्ट्य भी ये नहीं समझ पातीं ॥८०॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।

पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥८१॥

(श्रीमद्भा. १०/३२/२)

श्रीशुकदेव मुनिने श्रीपरीक्षितजीसे कहा—गोपियोंके विरह-विच्छेद-विलाप-गीतिके बाद सहसा पीताम्बरधारी वनमाली, हास्यवदन साक्षात् कामदेवके मनको मोहित करनेवाले भगवान् मदनमोहन गोपियोंके मध्य आविर्भूत हुए।

भगवान्का उपर्युक्त स्वरूप कान्तारसमें ही प्रकट होता है, ऐसा माधुर्य-स्वरूप ही कान्ता—भगवती व्रजसुन्दरियोंका केन्द्र होता है, इतने अद्भुत आकर्षकरूपका विरह एक त्रुटिके लिए भी युगके समान प्रतीत होता है। इसी विरह-आर्त्तिमें हृदयको और भी अधिक मर्मन्तक रूपसे बेध देनेवाले इस स्वरूपको श्रीकृष्ण धारण करते हैं।

कान्ताभावके अतिरिक्त और किसी भी रसमें इस माधुर्यकी अनुभूति नहीं हो सकती ॥८१॥

कृष्ण प्राप्तिर उपाय बहुविध हय।

कृष्णप्राप्ति-तारतम्य बहुत आछय ॥८२॥

किन्तु जाँर जेई रस, सेई सर्वोत्तम।

तटस्थ हज्ज विचारिले, आछे तर-तम ॥८३॥

श्रीकृष्णकी प्राप्तिके अनेक प्रकारके उपाय हैं; तदनुसार उनकी प्राप्तिके भी अनेक तारतम्य हैं। किन्तु जिनका जो भाव है उनके लिए वही सर्वोत्तम है। फिर भी तटस्थ होकर विचार किया जाए तो उनमें तारतम्य है।

श्रीकृष्णकी प्राप्तिके अनेक साधन हैं, अनेक रुचियाँ हैं, अनेक भाव हैं। विविध-साधनोंसे श्रीकृष्णके तद्-तद् रूपकी प्राप्ति होती है। श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति—ब्रह्मको ज्ञानमिश्राभक्तिसे, श्रीकृष्णकी विलासमूर्ति नारायणको ऐश्वर्यामिश्राभक्तिसे और स्वयं श्रीकृष्णको शुद्धाभक्तिके द्वारा पाया जा सकता है। दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर आदि विभिन्न भावोंसे जो श्रीकृष्ण-प्राप्ति है, उस प्राप्तिके स्वरूपोंमें भी एक विशिष्ट तारतम्य रहता है। दास्यवालोंके लिए वे प्रभु, सख्यवालोंके लिए सखा, वात्सल्यवालोंके लिए पुत्र एवं कान्ताभाववालोंके लिए वे प्राणप्रियतम रूप होते हैं। जिसका जो भाव है, उसके लिए वही भाव सर्वोत्तम है। वे अखिल रसामृतमूर्ति है, उनमें पाँच मुख्य रस और सात गौण रस विद्यमान हैं। श्रीशुकदेवजी कह रहे हैं—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।

गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ॥

मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां।

वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः ॥

(श्रीमद्भा. १०/४३/१७)

हे परीक्षित्! अखिल रसकदम्बरूप श्रीकृष्ण जब बलरामजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे, उस समय जो जिस रसका आराधक था,

उसको वे उसी रूपमें दृश्यमान हुए और रसानुभूत हुए। बड़े-बड़े मल्ल योद्धाओंको वे वज्र सदृश कठोर दिखाई देने लगे, तो माधुर्य रसाधिका स्त्रियोंको वे साक्षात् कामदेव ही जान पड़े और हृदय ही हृदयमें शृङ्गार रसके चिन्तनमें वे तन्मय हो गईं। साधारण मनुष्योंको नर-रत्न और गोपोंको स्वजन जान पड़े। भयार्त असत् राजाओंने श्रीकृष्णका दर्शन कठोर शासकके रूपमें किया था। मातृ-पितृवत् वयोवृद्धोंने उनको सुन्दर शिशु अवलोकन किया। भोजपति कंसको साक्षात् कालके रूपमें तथा जड़बुद्धि अज्ञानियोंको वे विराट रूपमें प्रतीयमान हुए। योगियोंने उन्हें परमतत्त्व, भक्त एवं प्रेमी वृष्णिवंशियोंको वे अपने इष्टदेव जान पड़े। इस प्रकार उन रस-परब्रह्मके दर्शनसे योगियोंमें शान्त, वृष्णियोंमें दास्य, हास्यप्रिय गोपबालोंमें सख्य एवं हास्य, नन्दादि गोपोंमें वात्सल्य एवं करुण, स्त्रीजनोंमें मधुर, मल्लोंमें वीर, साधारण मनुष्यको अद्भुत, भयभीत राजाओंमें रौद्र, भोजपति कंसमें भयानक, जड़ बुद्धिवालोंमें वीभत्स रसका उदय हुआ।

श्रीगुरुदेव जीवोंकी रुचियोंके अनुसार ही जीव एवं ईश्वरका सम्बन्ध मन्त्रोंके माध्यमसे जोड़ते हैं। जीव भी गुरु-प्रदत्त साधन-प्रणालीमें डूबता हुआ अपने लक्ष्य या साधन तक पहुँचता है। सभी भावोंमें कान्ताभाव ही असन्दिग्ध रूपसे सर्वश्रेष्ठ है ॥८२-८३॥

यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि।

रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कापि कस्यचित् ॥८४॥

(भ. र. सि. २/५/३८)

पाँचों प्रकारकी रतियाँ एक-दूसरेसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक आस्वादनीय एवं उल्लासमयी हैं। यही रति वासना-विशेषके क्रमसे परमास्वादनीय विशेष होकर किसी भक्त विशेषके लिए मधुर रसरूपमें प्रकाशित होती है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर इस श्लोकके अपने अमृतप्रवाह भाष्यमें लिखते हैं कि राय रामानन्दने कहा—मैंने पूर्व-पूर्वमें साध्य अर्थात् कृष्ण-प्राप्तिके बहुत-से उपायोंका उल्लेख किया है—परन्तु उनमें कृष्ण-प्राप्तिका तारतम्य विचार करना होगा। मानवगण जिस-जिस

उपायके अवलम्बन करनेके अधिकारी हैं, उन-उन उपायोंका अवलम्बनकर उन्होंने तदवस्थायोग्य जो साध्य-वस्तु अर्थात् कृष्णप्रेम प्राप्त किया है, उनके लिए वही प्रेम या रस श्रेयस्कर है। कृष्णकी प्राप्ति ही श्रेय है। दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर चार प्रकारके उत्तम रस हैं, जो जिस रसका अधिकारी है, उसके लिए वही सर्वोत्तम है। किसी भी एक रसमें आविष्ट अधिकारी अन्य रसोंके तारतम्यको समझ नहीं सकता। पुनश्च निरपेक्ष भावसे देखनेपर मधुररस ही सर्वोत्तम है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच प्रकारके रसोंमें क्रमशः तारतम्य है। तटस्थ विचारसे मधुररस सर्वश्रेष्ठ है ॥८४॥

पूर्व-पूर्व-रसेर गुण—परे-परे हय।
 एक-दुई गणने पञ्च पर्यन्त बाड़ये ॥८५॥
 गुणाधिक्ये स्वादाधिक्य बाड़े प्रति-रसे।
 शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्येर गुण मधुरते वैसे ॥८६॥
 आकाशादिर गुण येन पर-पर भूते।
 दुइ-तिन-गणने बाड़े पंच पृथिवीते ॥८७॥
 परिपूर्ण-कृष्णप्राप्ति एइ 'प्रेमा' हैते।
 एइ प्रेमार वश कृष्ण—कहे भागवते ॥८८॥

रसादि तारतम्यमें पूर्व-पूर्वके गुण अगले रसमें विद्यमान रहते हैं। पूर्वका गुण अगलेमें आ जानेसे दूसरेमें दो गुण, हो जाते हैं, तीसरेमें तीन इत्यादि पाँचवें रस तक पाँचों गुणोंकी वृद्धि हो जाती है। गुणोंकी अधिकतासे प्रत्येक रसका आस्वादन भी बढ़ता जाता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यके गुण मधुररसमें वर्तमान रहते हैं। इस सिद्धान्तको समझानेके लिए दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि आकाशादिके गुण जैसे अगले-अगले महाभूतोंमें बढ़ते जाते हैं और दो, तीनके क्रमसे पृथ्वीमें पाँचों महाभूत तक बढ़ते जाते हैं, अतः कान्ताप्रेममें पूर्व-पूर्वके चारों रसोंके गुण होनेके कारण कान्ताभाव ही सर्वश्रेष्ठ है। अतः श्रीकृष्ण इस कान्ताप्रेमके ही वशीभूत होते हैं—जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी, ये पाँच महाभूत हैं। जिनके क्रमसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध पाँच गुण हैं। अर्थात् आकाशमें शब्द यह एक गुण विद्यमान है तथा वायुमें शब्द एवं स्पर्श ये दो गुण विद्यमान हैं। उसी प्रकार क्रमसे अग्निमें शब्द, स्पर्श एवं रूप तथा जलमें शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस ये चार गुण एवं पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध ये पाँचों गुण विद्यमान होते हैं। निष्कर्षतः पृथ्वीमें जिस प्रकार आकाशादिके शब्दादि गुण वर्तमान होनेके साथ-साथ उसमें स्वाभाविक गन्धका गुण विशेष रूपसे होता है, उसी प्रकार कान्तारसमें शान्तादि चार रसोंके गुण तो होते ही हैं परन्तु सर्वांग द्वारा सेवा करना और भी एक अधिक गुण होता है। अतः कृष्णप्रेम परिपूर्णतम रूपसे मधुररसमें ही निष्पन्न होता है; क्योंकि इसमें रसोत्फुल्ल प्रेम द्वारा श्रीकृष्णकी निज अङ्गोंसे सेवा की जाती है। कृष्णका वशीभूतकारित्व इसी मधुररससे सम्भव है।

दास-सखा-माता-पिता आदि समस्त परिकरोंकी सेवा कान्ताभावकी सेवामें आ जाती है। शान्तका गुण कृष्ण-निष्ठा, दास्यादिकी भाँति सेवा, सख्यकी विश्रम्भ सेवा एवं वात्सल्यकी मङ्गलकामना एवं प्रेमाधीन होकर कृष्णका लालन-पालन आदि सभी गुण तो इसमें होते ही हैं, अधिकन्तु मधुरभावसे युक्त होकर सर्वांग द्वारा सेवाका अवसर इसी रस द्वारा उपलब्ध हो सकता है। इस रसमें स्थित प्रेमवती ब्रजकान्ताओंने लौकिकी तृष्णाएँ, स्वजन तो बहुत दूरकी बात है, देह-गेह-आत्मीय-स्वजन सबका तृणवत् परित्याग कर दिया ॥८५-८८॥

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।

दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥८९॥

(श्रीमद्भा. १०/८२/४४)

हे ब्रजगोपियों! मेरी भक्ति ही समस्त प्राणियोंको अमृतत्वका दान करनेवाली है। किन्तु बड़े सौभाग्य एवं आनन्दकी बात है कि तुम लोगोंमें मेरे प्रति जो स्नेह है, वही मेरी प्राप्तिका हेतु है।

कुरुक्षेत्र मिलन-प्रसंगमें विरह-कातरा गोपियोंसे वार्तालाप करते हुए श्रीकृष्णने गोपियोंके परम सौभाग्यकी प्रशंसा की है, क्योंकि केवल

कान्ताप्रेमसे ही उनको वशीभूत किया जा सकता है। दास्यादि प्रेममें ऐसी सामर्थ्य नहीं है ॥८९॥

कृष्णे प्रतिज्ञा दृढ सर्वकाले आछे।

जे जैछे भजे, कृष्ण तारे भजे तैछे ॥९०॥

श्रीकृष्णकी नित्यकाल ही यह प्रतिज्ञा है कि जो उनका भजन जिस प्रकार करता है, वे भी उसका उसी प्रकार भजन करते हैं। गीतामें भी भगवान्‌की ऐसी ही उक्ति है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

(श्रीगी. ४/११)

हे पार्थ! जो मनुष्य जिस प्रकारसे मेरा भजन करते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनका भजन करता हूँ। ये मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।

प्रपूज्यचरण श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने प्रस्तुत श्लोककी व्याख्या करते हुए कहा है—मनुष्य जिन मनोवाञ्छित फलोंकी कामनासे भगवान्‌की उपासना करते हैं, भगवान् भी उनकी कामनाके अनुरूप उन्हें फल प्रदान करते हैं। शुद्धभक्तिके साधक भगवान्‌के सच्चिदानन्द विग्रहकी नित्य सेवा-प्राप्तिके लिए ही भगवान्‌की आराधना करते हैं, भगवान् भी अपने इन प्रेमी भक्तोंको अपना नित्य परिकर बनाकर उन्हें अभिलषित प्रेममयी सेवा प्रदान किया करते हैं। निर्विशेषवादी ज्ञानियोंको भगवान् उनकी कामनाके अनुसार अपने निर्विशेष आविर्भाव-विशेष निर्विशेष-ब्रह्ममें निर्वाणरूपा मुक्ति प्रदान करते हैं। सकाम कर्मियोंके समीप भगवान् कर्मफल प्रदाता ईश्वरके रूपमें प्रकट होते हैं। इसी प्रकार योगियोंको वे ईश्वरके रूपमें विभूति अथवा कैवल्य प्रदान करते हैं। इन सब प्रकारकी उपलब्धियोंमें गोलोक-व्रजस्थ व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

अतः श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोकका अर्थ ठीकसे समझना चाहिए कि सबकी आराधनाओंका फल एक समान नहीं होता, जो जिस-जिस

प्रकारसे भजन करते हैं—उन्हें उनकी कामनाके अनुरूप ही फल प्राप्त होता है।

उक्त श्लोकके “मनुष्याः पार्थ सर्वशः” का कुछ विद्वज्जन इस प्रकार अर्थ करते हैं कि जो जैसी भी आराधना करे, सभी भगवान्‌के भजन पथपर हैं और भगवान्‌ उन्हें समान ही फल प्रदान करेंगे—यह सर्वथा भ्रान्त धारणा है। श्रीमद्भगवत् आदि शास्त्रोंमें भी ऐसी मूर्खतापूर्ण धारणाओंका खण्डन किया गया है कि कुकर्मियोंकी, ज्ञानियोंकी, भक्तोंकी और प्रेमी भक्तोंकी अन्तमें एक ही गति होगी। श्रीमद्भगवद्गीतामें ही आगे कहा गया है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(श्रीगी. ९/२५)

अर्थात् जो व्यक्ति जिस भावसे मेरे प्रति प्रपत्ति स्वीकार करते हैं, मैं उसको उसी भावसे भजता हूँ। सभी मतोंके चरम उद्देश्य स्वरूप मैं ही सबका प्राप्य हूँ। भगवान्‌ कहते हैं—शुद्धभक्तोंको परमधाममें मेरे सच्चिदानन्द विग्रहकी नित्यसेवाका परमानन्द प्राप्त होता है, निर्विशेषवादियोंको उनके आत्मविनाश द्वारा निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप निर्वाणमुक्ति प्राप्त होती है। जो शून्यवादी हैं उनके लिए मैं भी शून्य स्वरूप होकर उनकी सत्ताको ही शून्यगत कर देता हूँ। जो जड़, जड़कर्मासक्त अथवा जड़वादी हैं, उनकी आत्माको आच्छादित चेतन रूपमें जड़प्राय बनाकर जड़रूपमें ही उनको प्राप्त होता हूँ। जो योगी हैं, उनके निकटमें ईश्वरके रूपमें विभूति प्रदान करता हूँ अथवा कैवल्य दान करता हूँ। निष्ठा भेदके अनुसार किसी-किसीको नश्वर जन्म भी प्रदान करता हूँ। इस प्रकार सर्वस्वरूप होकर मैं सभी मतवादियोंके लिए प्राप्य होता हूँ। परन्तु इन सबमें मेरी सेवा प्राप्तिको ही प्रधान समझना चाहिए। मनुष्यमात्र ही मेरे विविध पथका अनुसरण करते हैं॥९०॥

एइ ‘प्रेमे’र अनुरूप ना पारे भजिते।

अतएव ‘ऋणी’ हय—कहे भागवते ॥९१॥

इस प्रतिज्ञाके अनुरूप यदि मैं भजन करनेवालोंका भजन नहीं कर पाता हूँ तो मैं उनका ऋणी बन जाता हूँ—यह कथन श्रीकृष्ण द्वारा भागवतमें कहा गया है।

अनुरूप भजनसे यह तात्पर्य है कि जब भक्त अपने किसी मनोरथके लिए भजन करता है, तो श्रीकृष्ण उसके मनोरथको पूर्ण कर देते हैं—यह श्रीकृष्णका भक्तके भजनके अनुरूप भजन कहलाता है। अनुरूपताका दूसरा प्रकार यह है कि जो जिस भावसे श्रीकृष्णकी तृप्ति करना चाहता है, श्रीकृष्ण भी उसकी तृप्तिके लिए वैसी ही चेष्टा करें। परन्तु श्रीकृष्ण दोनों ही उपायोंसे अनुरूप भजन नहीं कर पाते। अनुरूप—जिन सिद्धा गोपियोंमें स्वसुखकी गन्धमात्र भी नहीं है, अतः श्रीकृष्ण उन्हें सुख कैसे पहुँचाएँ? वे तो मात्र श्रीकृष्णको ही सुखी करना चाहती हैं, यदि श्रीकृष्ण उनके मनोरथको पूर्ण करें, तो उन्हें (श्रीकृष्णको) ही सुख मिलता है। ब्रज-गोपियोंने अपना सर्वस्व परित्याग करके श्रीकृष्णमें आत्मनियोग कर दिया, परन्तु श्रीकृष्ण कभी भी एक गोपीके लिए अन्यान्य गोपियोंका यहाँ तक कि अपने किसी साधारण भक्तका भी परित्याग नहीं कर सकते। अतः श्रीकृष्ण गोपियोंके अनुरूप भजन नहीं कर पाते। स्वयं श्रीकृष्णने भागवतमें इस बातको इस प्रकार स्वीकार किया है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां,
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जर-गेहशृखलाः,
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥१२॥

(श्रीमद्भा. १०/३२/२२)

हे ब्रजसुन्दरियो! मैं ब्रह्माके जीवनकालमें भी आप लोगोंकी निःस्पृह सेवाके ऋणको चुका नहीं पाऊँगा। मेरे साथ तुम लोगोंका मिलन निर्मल और अनिन्दनीय है। तुमने उन समस्त गृह-बन्धनोंको तोड़कर मेरा भजन किया है, जिन्हें तोड़ पाना अत्यन्त कठिन है। अतएव तुम्हारे यशस्वी कार्य ही तुम्हारे साधुत्वका प्रत्युपकार करें।

कान्ताप्रेमकी सर्वोत्कृष्टता इसीमें ही है कि इसके अलावा श्रीकृष्णने किसी और रसमें ऋणी बनना स्वीकार नहीं किया। इस प्रेम-माधुर्यकी धुरी गोपियाँ हैं और श्रीकृष्ण हैं इस धुरीके चक्का। जिस वस्तुको आश्रय करके चक्का घूमता है, उसे धुरी कहते हैं। यदि उक्त चक्केसे गोपीरूप धुरीको हटा दिया जाए तो श्रीकृष्ण निर्विशेष रह जाएँगे। गोपियोंके भावोंके कारण ही श्रीकृष्णका माधुर्य बढ़ता है। श्रीकृष्णने ऋणी बननेकी बात कब और क्यों कही? इसका उत्तर यह है कि जब रास चल रहा था, तब गोपियोंको सौभाग्यमद हो गया था और श्रीवृषभानु दुलारी राधाजीको मान। श्रीमती राधाजीकी विरहोज्ज्वलताको इस जगतमें स्थापित करनेके लिए तथा स्वयं भी राधा एवं गोपियोंकी विरहोक्तियोंके श्रवण एवं आस्वादनके लिए श्रीकृष्ण रासमें ही अन्तर्ध्यान हो गए। गोपियाँ विरहमें आविष्ट होकर लता, वृक्ष, तुलसी, यमुना, वृक्षादिसे श्रीकृष्णके लिए पृछने लगीं, परन्तु किसीने उन्हें उत्तर नहीं दिया। सहसा श्रीकृष्णके पदचिह्न दिखाई दिए और साथमें ही किसी किशोरीके भी चरणचिह्न दिखाई पड़े। अन्यान्य गोपियाँ उस किशोरीके भाग्यकी सराहना करने लगीं। वे उन पदचिह्नोंका अनुसरण करती हुई आगे बढ़ीं तो देखा कि सोनेकी पुतलिकावत् राधा विरहमें मूर्च्छित पड़ी है। गोपियोंने उन्हें सान्त्वना दी। तदनन्तर सभी गोपियाँ अपने-अपने भावानुसार टोलियाँ बनाकर यमुना-पुलिनमें रोदन करती हुई कीर्तन करने लगीं। यही संकीर्तन 'गोपीगीत' नामसे अभिहित है। इस गीतको श्रवणकर श्रीकृष्ण स्वयंको रोक न सके और प्रकट हो गए। समस्त गोपियोंने अपनी-अपनी कुच-कुंकुम-रञ्जित चुनरियोंको उतारकर आसन बनाया और श्रीश्यामसुन्दर उसपर विराजमान हुए। माधुर्यसके धरातलपर गोपियोंने श्रीश्यामसुन्दरसे कुछ प्रश्न किए और श्रीकृष्णने उन सबका उत्तर बड़ी चतुराईसे दिया। प्रेमाद्र प्रश्नोंसे श्रीकृष्ण निरुत्तर हो गए और उन गोपियोंके चिर-ऋणी बन गए। प्रपूज्यचरण गोस्वामियोंका कथन है कि ऋणी बननेमें वे जिस सुखका अनुभव करते हैं, ब्रह्मा कृत स्तुति भी उन्हें वैसा सुख प्रदान नहीं कर

सकती। समय-समयपर अवसर प्राप्तकर श्रीकृष्णने सभी रसोंके भक्तोंका ऋण चुकाया। परन्तु जब-जब गोपियोंके माधुर्यप्रेमके ऋणको चुकानेका प्रयास किया और भी अधिकतर ऋणी बनते गए॥९२॥

यद्यपि कृष्ण-सौन्दर्य-माधुर्ये धूर्य।

व्रजदेवीर सङ्गे ताँर बाड़ये माधुर्य॥९३॥

यद्यपि श्रीकृष्णका असमोद्ध-सौन्दर्य माधुर्यकी परावधि है, फिर भी व्रजदेवियोंके सङ्गमें यह सौन्दर्य एवं माधुर्य और भी अनन्त गुना अधिक बढ़ जाता है।

यद्यपि पराकाष्ठाकी स्थितितक पहुँचे हुए श्रीकृष्णके माधुर्य एवं सौन्दर्यमें बढ़ोत्तरीका कोई अवकाश ही नहीं है, तथापि परस्पर दर्शन-मिलनसे यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। इस माधुर्यमें ऐसी अचिन्त्य, अद्भुत शक्ति है कि जब गोपियाँ श्रीकृष्णके माधुर्य एवं सौन्दर्यको देखती हैं तो अत्यन्त उल्लसित हो जाती हैं और गोपियोंके सुखोल्लासको देखकर श्रीकृष्णको भी और अधिक प्रसन्नता होती है। श्रीकृष्ण समझते हैं कि मैं गोपियोंको सुख दे रहा हूँ और गोपियाँ इसलिए प्रसन्न होती हैं कि हमारी सेवा श्रीकृष्णको प्रसन्नता प्रदान कर रही है। परस्पर प्रसन्न करनेकी स्पर्धा बनी रहती है॥९३॥

तत्राति शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।

मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा॥९४॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/६)

नृत्य करती गोपियोंके बीच भगवान् श्रीकृष्ण उसी प्रकार अत्यन्त शोभायमान प्रतीत हो रहे थे, जिस तरह सोनेके आभूषणोंके बीच मरकत मणि शोभा पाती है।

हैमानां—हेमवर्ण (स्वर्णवर्ण) मणियोंके मध्यमें अर्थात् स्वर्णनिर्मित गोलाकृति जो देखनेमें मणिरचित दिखाई दे रही है।

महामरकत—महामरकत अर्थात् इन्द्रनीलमणि। गोपियाँ स्वर्णमणि सदृश हैं और श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति इन्द्रनीलमणिवत् श्यामल वर्णीय है।

मध्ये मणीनां यथा—स्वर्णिम मणिखचित हारके मध्यस्थ जैसे नीलमणि शोभाको प्राप्त करती है, उसी प्रकार मणिरूपा गोपियोंके मध्य नीलकान्ति श्रीकृष्ण सुशोभित हो रहे हैं।

तत्रातिशुशुभे—महारासके समय गोपियोंके मध्यमें श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके मध्यमें गोपियाँ अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं। श्रीकृष्णका सौन्दर्य एवं माधुर्य स्वाभाविक रूपसे असमोर्द्ध्व है, परन्तु परिकरोंके वैशिष्ट्यसे उनमें और भी निखार आ जाता है। गोपियोंके मध्यमें ही वे सबसे मधुर एवं सुन्दर लगते हैं। जब श्रीकृष्ण द्वारकामें थे, तब ब्रजभावमें तन्मय होकर विह्वल हुआ करते थे। उनकी इस अवस्थाको देखकर ब्रह्माजीने उनको भावान्तरमें लानेके लिए नववृन्दावनकी रचना कराई। उस नववृन्दावनमें जैसे ही श्रीकृष्णने श्रीवृषभानु नन्दिनीको (प्रतिमाके रूपमें) सखियोंके साथ देखा तो उनका स्वाभाविक साक्षात् मन्मथ रूप और भी निखर आया। इस रूपको देख कंसकी माँ पद्मा भी अपने आपको रोक नहीं सकी और श्रीकृष्णकी ओर कान्ताभावसे धावित होने लगी। अन्तमें, माँ रोहिणीने उन्हें पकड़ा।

भगवान्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।

ज्ञान वैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥

(विष्णुपुराण ६/५/६४)

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री अर्थात् सौन्दर्य, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छह अचिन्त्य गुणोंसे युक्त परमतत्त्व ही भगवान् हैं। अवतारावली प्रसङ्गमें कोई-कोई अवतार कारणार्णवशायी महाविष्णुके अंश हैं और कोई-कोई आवेश-अवतार हैं। सम्भवामि युगे-युगेके अनुसार असुरों द्वारा उत्पीड़ित जगतकी रक्षाके लिए ये सभी अवतार युग-युगमें अवतीर्ण हुआ करते हैं। अवतारोंके मूलपुरुष, आद्य पुरुषावतार महाविष्णु भी ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णके अंश हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥

(श्रीमद्भा. १/३/२८)

प्रश्न उठता है कि माधुर्य-मण्डित रासलीलामें ऐश्वर्यसूचक 'भगवान्' शब्दका उल्लेख क्यों किया गया है—“तत्रातिशुशुभे 'भगवान्' देवकीसुतः।” तो उसका समाधान यह है कि महाराज परीक्षित्की सभामें सभी प्रकारके श्रोता थे—कर्मी, ज्ञानी, योगी, तपस्वी, मिश्रित भक्त एवं शुद्धभक्त आदि। कोई भगवान्को साधारण मानव न मान ले, उनकी लीला, परिकर अथवा धाममें साधारण मर्त्यबुद्धि न कर बैठे, अतः 'भगवान्' शब्द व्यवहृत हुआ है। वैसे भी भगवान्के द्वारा ही इन लीलाओंका सम्पादन किया जा सकता है। गोस्वामीचरण एक सिद्धान्त और प्रस्तुत करते हैं कि ऐश्वर्यके धरातलके बिना श्रीकृष्णकी कोई लीला निष्पन्न नहीं हो सकती, श्रीकृष्णका ऐश्वर्य कभी भी किसी भी स्थितिमें च्युत नहीं हो सकता। परन्तु ब्रजकी लीलाओंमें माधुर्याधिक्य अथवा मधुररसके परिपूर्णतम प्लावनसे वह ऐश्वर्य माधुर्यके क्रोड़ीभूत हो जाता है। अथवा कदाचित् अनधिकारियोंको दिखलानेके लिए खोलते हुए दुग्धमें तृणवत दीखकर पुनः माधुर्यके अगाध उदधिमें वह निमज्जित हो जाता है।

देवकीसुत—देवकीसुत वासुदेवके लिए रासलीला करना सर्वथा असम्भव है। यहाँ प्रस्तुत श्लोकमें शुकदेव मुनि द्वारा प्रयुक्त देवकीसुतसे अभिप्राय यशोदासुतसे है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने अपनी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि यशोदाका दूसरा नाम देवकी था। एकाकी ही श्रीकृष्णने अनन्त कोटि गोपियोंके साथ नृत्य किया एवं अनेक रूप धारण किए, जितनी गोपियाँ उतने ही रूप। श्रीकृष्णके नृत्यकी गतिमें इतनी क्षिप्रता थी कि जैसे मशालको चहुँ दिशाओंमें घुमाया जाए तो आग एक गोलाकृतिमें दृष्टिगोचर होती है, उसी प्रकार अनन्त-अनन्त गोपियोंको वे उनके समीप ही अनुभूत हुए ॥९४॥

प्रभु कहे,—“एइ ‘साध्यावधि’ सुनिश्चय।

कृपा करि कह, यदि आगे किछु हय॥”९५ ॥

श्रीमन्महाप्रभु बोले—यह सुनिश्चित मत है कि कान्ताप्रेम ही साध्यकी अन्तिम अवधि है। श्रीमन् रायजी यदि इसके आगे कुछ हो तो वर्णन कीजिए॥९५ ॥

राय कहे,—“इहार आगे पूछे हेन जने।

एतदिन नाहि जानि, आछये भुवने॥९६ ॥

श्रीराय रामानन्दने कहा—मैं नहीं जानता था कि इस त्रिभुवनमें ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जो इसके भी आगे कुछ और पूछेगा॥९६ ॥

इँहार मध्ये राधार प्रेम—‘साध्यशिरोमणि’।

याँहार महिमा सर्वशास्त्रेते बाखानि॥९७ ॥

इस कान्ताप्रेमके तो मध्य बस श्रीराधाका प्रेम ही है, जो सर्वसाध्यशिरोमणि तत्त्व है और जिसकी महिमा सम्पूर्ण शास्त्रोंमें वर्णित है।

कान्ताप्रेमसे तात्पर्य है ब्रजगोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम। महाप्रभुजीका अग्रिम प्रसङ्ग भावोंकी वैचित्रीसे सम्बन्धित था, जिसे सुनकर राय रामानन्द आश्चर्यचकित हो उठे। साधकोंके लिए साध्य-मुकुटमणि राधाप्रेम ग्रहण करना असम्भव है, लेकिन इसके अनुगत कृष्णप्रेमके अत्युच्च भावको जीव सिद्धावस्थामें प्राप्त करने योग्य हो जाता है। साधनावस्थामें राधिकाकी सखियाँ (मञ्जरीभाव) ही अनुसरणीय है। उद्धवजीने श्रीराधाजीके जिन भावोंका दर्शन किया, उन भावोंको श्रीमन्महाप्रभुके जीवनचरित्रमें भी देखा जाता है। महाप्रभुजीने श्रीराधाके महाविप्रलम्भमय भावोंके साथ ही सम्भोगात्मक भावोंका भी आस्वादन किया॥९७ ॥

यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।

सर्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा॥९८ ॥

(लघुभागवतामृत २/१/४५, पद्मपुराणवचनम्)

जिस प्रकार श्रीकृष्णको श्रीराधा अतिशय प्रिय हैं, उसी प्रकार उनका कुण्ड राधाकुण्ड भी उन्हें अत्यन्त प्रिय है। समस्त गोपियोंमें केवल श्रीराधाजी ही श्रीकृष्णचन्द्रकी अत्यन्त प्रियतमा प्रेयसी हैं।

जब भानुदुलारी राधा श्रीकृष्णसे मान कर लेती हैं, तब श्रीकृष्ण उन्हें मना-मनाकर पराभूत हो जाते हैं और श्रीमती राधाजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिए राधाकुण्डपर आकर उसे साक्षात् राधा ही जानकर मनोरथपूर्ति हेतु तपस्या करते हैं। अन्ततः श्रीराधाकुण्ड भी उनके मनोरथको पूर्ण करते हैं—

अघरिपुरपि यत्नादत्र देव्याः प्रसाद
प्रसरकृत-कटाक्ष-प्राप्तिकामः प्रकामम्।
अनुसरति यदुच्चैः स्नानसेवानुबन्धैः
तदति सुरभि राधाकुण्डमेवाश्रयो मे॥

(श्रीमद् रघुनाथदास गोस्वामी विरचित
श्रीराधाकुण्डाष्टकम्, श्लोक ३)

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।

यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद् रहः॥९९॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/२८)

हे सखि! हम लोगोंको परित्यागकर श्रीकृष्ण जिस गोपीको एकान्तमें ले गए हैं, उन्होंने अवश्य ही ईश्वर श्रीहरिकी अधिक रूपसे आराधना की होगी। इसका गूढ़ अर्थ यह है कि वे कृष्णकान्ताओंकी शिरोमणि हैं, इसीलिए उनका नाम 'राधिका' हुआ है।

प्रस्तुत श्लोक शारदीय-महारास-प्रसङ्गमें विपक्षा गोपियोंके द्वारा कहा गया है। इस श्लोकके द्वारा राधाजीका प्रेमोत्कर्ष सिद्ध होता है। रासलीलामें जब श्रीकृष्ण ब्रजगोपाङ्गनाओंके साथ विहार क्रीड़ादि अनेक लीलाओंमें निरत थे, तब श्रीकृष्णके द्वारा अत्यधिक अभिनन्दित गोपियोंको सौभाग्यमद हो गया और इधर श्रीराधाने भी मान कर लिया कि जिस तरह कृष्ण प्रेमपूर्वक मेरे सङ्गमें नाना प्रकारकी भङ्गियोंके साथ नृत्य और गान कर रहे हैं, उसी प्रकार अन्य

गोपियोंके साथ भी कर रहे हैं। अतः श्रीराधिकाका मान प्रसादन और अन्यान्य गोपियोंके सौभाग्यमदको प्रशमित करनेके लिए राधाजीको साथ लेकर रासस्थलीसे अन्तर्धान हो गए। जब श्रीराधाकृष्ण एक कुञ्जसे दूसरे कुञ्जमें प्रविष्ट हो रहे थे—तभी राधाजीके चरणोंकी छाप बालुकामें अंकित हो गई। दाएँ पाँवके अंगूठेके नीचे जौका चिह्न, उसके नीचे चक्र, चक्रके नीचे छत्र तथा छत्रके नीचे बाजूबन्द (कंगन) थे। अंकित पद-छापमें बीचसे एक खड़ी रेखा अंगूठे तथा दूसरी अंगुलीके बीच तक जा रही थी। मध्यम अंगुलीके नीचे कमल और उसके नीचे ध्वजा थी। ध्वजाके नीचे लता और लतामें एक फूल लगा था। छिगुनीके नीचे अंकुश और एड़ी प्रान्तमें अर्धचन्द्रका चिह्न था। बाएँ पाँवके अंगूठेके नीचे शंख और उसके नीचे भाला था। छिगुनीके नीचे यज्ञवेदी थी, जिसके नीचे कुण्डल और कुण्डलके नीचे भाला चिह्नित था। दूसरी, तीसरी, चौथी अंगुलियों तथा छिगुनीके नीचे पर्वतका चिह्न अंकित था, उसके नीचे रथ तथा एड़ीमें मछलीका चिह्न दृष्टिगोचर हो रहा था। इसी प्रकार ध्वजा, कमल, वज्र, अंकुश और यव आदिसे संयुक्त श्रीकृष्णके चरणचिह्न भी दिखाई पड़ रहे थे।

पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः।

लक्ष्यन्ते हि ध्वजाम्भोजवज्राकुंशयवादिभिः॥

(श्रीमद्भा. १०/३०/२५)

श्रीराधाकृष्ण स्वयं अपने चिह्नोंकी छापसे अनभिज्ञ थे। कुञ्जस्थ एक निविड़ एवं सघन वृक्षके तले श्यामसुन्दरने मानिनी राधिकाका शृङ्गार आदि कर उन्हें प्रसन्न किया। इस प्रकार उनका दुर्जय मान प्रशमित किया। रासमें अन्तर्ध्यान हुए श्यामसुन्दरको न देखकर गोपियाँ अतिशय विकल हो उठीं, मानो उनके प्राण ही चले गए। यत्र-तत्र श्यामसुन्दरका अन्वेषण करने लगीं। अनुसन्धान करते-करते उन्हें श्रीकृष्णके चरणचिह्नके साथ एक स्त्रीके चरणचिह्न भी दिखलाई पड़े। इन पदचिह्नोंको देखते ही विपक्षीय गोपिकाएँ परस्पर कह उठीं—जैसे हथिनी अपने प्रियतम गजराजके साथ गई हो, वैसे ही नन्दनन्दन श्यामसुन्दरके साथ उनके कन्धेपर हाथ रखकर चलनेवाली किस

बड़भागिनीके चरणचिह्न हैं? अवश्य ही सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीहरिकी इसने अधिक आराधना की होगी। इसीलिए इसपर प्रसन्न होकर हमारे प्राणप्यारे श्यामसुन्दरने हमें छोड़ दिया है और उसे एकान्तमें ले गए हैं। स्वपक्षीय गोपिकाएँ अपनी सखी श्रीराधाका चरणचिह्न देखते ही प्रफुल्लित हो गईं, परन्तु बाह्य रूपसे कोई भी भाव प्रदर्शित नहीं किया, क्योंकि वहाँ विपक्षा, तटस्था, सुहृदा आदि सभी गोपियाँ थीं; यदि वे यह जान गईं कि ये पदचिह्न राधाजीके ही हैं, तो राधाके प्रति उनका असूया एवं रोष और भी बढ़ जाएगा। अतः अनभिज्ञकी भाँति चरणचिह्नोंका अनुसरण करते हुए वे भी आगे ही बढ़ने लगीं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने कहा है—

राधिका चरण-पद्म, सकल श्रेयेर सद्म,
यतने ये नाहि आराधिल।

राधा पदाङ्कित धाम, वृन्दावन यार नाम,
ताहा ये ना आश्रय करिल॥१॥

राधिका भाव गम्भीर चित्त जेवा महाधीर,
गणसङ्ग ना कैल जीवने।

केमने से श्यामानन्द रससिन्धु स्नानानन्द,
लभिबे बुझिबे एकमने॥२॥

राधिका उज्ज्वल रसेर आचार्य।
राधामाधव शुद्धप्रेम विचार्य॥३॥

ये धरिल राधापद परम यतने।
से पाइल कृष्णपद अमूल्यरतने॥४॥

राधापद विना कभु कृष्ण नाहि मिले।
राधार दासीर कृष्ण सर्ववेदे बले॥५॥

छोड़त धन-जन, कलत्र-सुत-मित,
छोड़त करम-गेयान।

राधा-पदपङ्कज मधुरत सेवन,
भक्तिविनोद परमाण॥६॥

अर्थात् श्रीमती राधिकाजीके श्रीचरणकमलोंसे अंकित श्रीवृन्दावन धामका आश्रय लेकर जिसने समस्त प्रकारके श्रेयोंके आधारस्वरूप श्रीमती राधिकाजीके श्रीचरणोंकी आराधना नहीं की तथा राधाजीके गम्भीर भावोंको हृदयमें धारण करनेवाले उनके निज गणोंका कभी सङ्ग नहीं किया, तो विचार कीजिए कि वह किस प्रकार श्रीश्यामसुन्दरके आनन्दरसके समुद्रमें स्नान करनेका आनन्द प्राप्त कर सकेगा? क्योंकि श्रीमती राधिका तो मधुररसकी आचार्या हैं। श्रीराधामाधवका शुद्ध प्रेम विचारणीय है। जिसने यत्नपूर्वक राधाजीके चरणकमलोंका आश्रय लिया है, एकमात्र उसीने अमूल्य रत्नस्वरूप श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंको प्राप्त किया है। श्रीराधाजीके चरणोंका आश्रय ग्रहण किए बिना श्रीकृष्णकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है। परन्तु समस्त वेदशास्त्र इसके प्रमाण हैं कि जिसके हृदयमें राधाजीकी दासीका भाव आ जाता है, उसे सहज ही कृष्णकी प्राप्ति हो जाती है ॥९९॥

प्रभु कहे,—“आगे कह, शुनिते पाई सुखे।

अपूर्वामृत-नदी बहे तोमार मुखे ॥१००॥

उपर्युक्त श्लोकको सुनकर महाप्रभु गद्गद हो उठे और कहने लगे—आगे और कहो राय, मुझे यह सुनकर बड़ा सुख प्राप्त हो रहा है, तुम्हारे मुखसे अद्भुत, अनुपम, अमृतकी चमत्कारपूर्ण नदी प्रवाहित हो रही है ॥१००॥

चुरि करि' राधाके निल गोपीगणेर डरे।

अन्यापेक्षा हैले प्रेमेर गाढ़ता ना स्फुरे ॥१०१॥

राय! आपने 'अनयाराधितो' श्लोकके द्वारा श्रीराधिकाके सम्बन्धमें जो संकेत किया है, उससे यदि दूसरी गोपियोंके डरसे ही श्रीकृष्ण गुप्त रूपसे श्रीराधाको एकान्त स्थलमें ले गए हों, तो यहाँ अन्यापेक्षा है अर्थात् वे दूसरी गोपियोंसे भी प्रेम करते हैं; साक्षात् रूपमें सबके सामने ही यदि राधाजीको साथ ले जाएँ, तो दूसरी गोपियाँ रुष्ट हो जायेंगी। इस अन्यापेक्षासे श्रीराधाके प्रेमकी प्रगाढ़ता दूसरी गोपियोंसे अधिक प्रमाणित नहीं होती है ॥१०१॥

राधा लागि' गोपीरे यदि साक्षात् करे त्याग।

तबे जानि,—राधाय कृष्णे राग अनुराग ॥१०२॥

यदि श्रीकृष्ण समस्त गोपीजनोंके सम्मुख ही उन सबका परित्यागकर श्रीराधाको अपने साथ ले जाते तो समझा जा सकता है कि श्रीकृष्णका श्रीराधाजीके प्रति सर्वाधिक दृढ़ अनुराग था। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि अन्य गोपियोंके साथ रहते हुए राधाके प्रति श्रीकृष्णका निरपेक्ष प्रेम अभिव्यक्त नहीं हो सका, उनके प्रगाढ़ प्रेमकी स्फूर्ति नहीं हो सकी। अतः अन्यापेक्षावशतः श्रीकृष्ण गोपियोंके भयसे रासस्थलीसे राधाको चुराकर अन्य गोपियोंसे पृथक् चले गए। ऐसा करनेसे ही पूर्ण रसकी पराकाष्ठा हुई और रासलीला सम्पन्न हुई। राधाको ले जानेसे उनका मान प्रसादन हुआ, दूसरी गोपियोंके सौभाग्यमदका प्रशमन हुआ, साथ ही सभी गोपियोंके मनोका मधुर-मिलन भी हुआ।

श्रीमन्महाप्रभुने राधाप्रेमकी गम्भीरताको छिपाकर श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णके प्रेममें जो शंका उठाई है—वास्तवमें उस शंकाके बिना राधाप्रेमकी महिमा सम्यक् रूपसे व्यक्त भी नहीं हो सकती थी। रासलीलामें अन्तर्ध्यान प्रसंगमें प्रपूज्यचरण गोस्वामीवर्गने निम्न धारणाएँ प्रस्तुत की हैं—

(१) जब रासस्थलीसे आराधिका एवं आराध्य अन्तर्ध्यान हुए तो राधा यूथकी गोपियाँ भी इस बातको न जान सकीं कि उनकी स्वामिनी भी अन्तर्ध्यान हो गई है। अतः जैसे अन्यान्य गोपियाँ श्रीकृष्णको ढूँढ़ने लगीं, वैसे ही राधायूथकी गोपियाँ अपनी स्वामिनी राधाजीको ढूँढ़ने लगीं। उन्हें यह संशय हो रहा था कि श्रीराधाजी श्यामसुन्दरके साथ गयी हैं अथवा पृथक् रूपसे रासस्थलीसे बिछुड़ गई हैं।

(२) अन्वेषण करनेपर स्वपक्षा गोपियाँ चरणचिह्न देखकर तुरन्त पहचान गई कि ये चरणचिह्न राधाजीके ही हैं; क्योंकि उन्हें राधाजीकी चरणसेवाका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अतः यहाँ सभी प्रकारके सन्देह निरस्त हो जाते हैं और सुसिद्ध हो जाता है कि राधाजी श्रीकृष्णकी प्रिय गोपियोंमें सर्वापेक्षा प्रियतमा हैं।

महाप्रभुजीका अभिप्राय भी यही है कि श्रीमान् राय रामानन्द राधाप्रेमकी महिमाकी सर्वातिशयताका और भी अधिक वर्णन करें॥१०२॥

राय कहे,—“तबे शुन प्रेमेर महिमा।

त्रिजगते राधा-प्रेमेर नाहिक उपमा ॥१०३॥

रायने कहा—तब राधाप्रेमकी महिमा सुनिए। तीनों भुवनोंमें राधाके प्रेमकी कोई उपमा नहीं है॥१०३॥

गोपीगणेर रास-नृत्य-मण्डली छाड़िया।

राधा चाहि' वने फिरे विलाप करिया ॥१०४॥

राय रामानन्दजीने बड़ी निपुणताके साथ महाप्रभुकी उक्त आपत्तिका खण्डन किया। उन्होंने कहा—प्रभो! शारदीय रासमें अन्यान्य गोपियोंसे छिपाकर श्रीकृष्ण श्रीराधाको सङ्ग लेकर गए थे, यह सत्य है और श्रीकृष्ण दूसरी गोपियोंकी अपेक्षा भी रखते हैं, उससे यह भी प्रमाणित होता है। परन्तु ऐसा सब समय नहीं देखा जाता। श्रीजयदेव कवि द्वारा वर्णित वासन्ती रासलीलाके द्वारा यह निःसन्देह रूपसे प्रमाणित होता है। शतकोटि गोपियोंके साथ रासलीला आरम्भ हुई। अकस्मात् श्रीकृष्णने देखा रासमण्डलीमें रासेश्वरीजी नहीं हैं। तत्क्षणात् वे रासस्थलीको छोड़कर खिन्नमनसे विलाप करते हुए श्रीराधाको दूढ़नेके लिए इधर-उधर वनमें दौड़े। करोड़ों गोपियाँ रासस्थलीमें पड़ी रहीं। श्रीकृष्णने उनकी ओर देखा भी नहीं अथवा उनसे यह कहा भी नहीं कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। सबके सामने ही चले गए। किसी भी गोपीकी अपेक्षा नहीं की। श्रीराधाके प्रति श्रीकृष्णके प्रगाढ़ और दृढ़ अनुरागका यही परिचय है।

यदि इसको इसी रूपमें ही ले लिया जाए जैसा श्रीमन्महाप्रभु कह रहे हैं, तो गोस्वामीचरण कहते हैं—श्रीकृष्ण कभी-कभी अन्यान्य गोपियोंकी अपेक्षा रखते हैं, परन्तु वह रस-वैचित्रिके आस्वादन हेतु। यदि उन गोपियोंके ही सम्मुख श्रीकृष्ण राधाजीको ले जाते तो गोपियोंका गर्व तो नष्ट नहीं होता, बल्कि उनमें ईर्ष्याके भाव बढ़ जाते और रास-महोत्सव सम्पन्न होता ही नहीं। प्रस्तुत पयार द्वारा

श्रीमन्महाप्रभुने महाकवि जयदेव द्वारा विरचित गीतगोविन्दके वासन्ती रासकी ओर इंगित किया है ॥१०४॥

कंसारिरपि संसारवासनाबद्धशृङ्खलाम् ।

राधामाधाय हृदये तत्याज ब्रजसुन्दरीः ॥१०५॥

(गीतगोविन्द ३/१)

कंसारि श्रीकृष्ण ने अपनी सम्पूर्ण साररूप रासलीलाकी वासनाको दृढ़तापूर्वक बाँधनेवाली शृङ्खलारूप राधाको हृदयपर (वक्षस्थलपर) धारणकर अन्यान्य समस्त ब्रजसुन्दरियोंको परित्याग कर दिया ॥१०५॥

इतस्ततस्तामनुसृत्य राधिका—

मनङ्गबाण—व्रणखिन्नमानसः ।

कृतानुतापः स कलिन्दनन्दिनी—

तटान्तकुञ्जे विषसाद माधवः ॥१०६॥

(गीतगोविन्द ३/२)

अनङ्गबाणोंसे आहत होकर माधव कालिन्दीके कूलपर इधर-उधर राधाजीका अन्वेषण करने लगे और खिन्न होकर एक कुञ्जमें स्थित होकर विषाद करने लगे।

वासन्ती रासमें शतकोटि गोपियाँ उपस्थित थीं कि हठात् श्रीराधाजी रासस्थलीका त्याग करके चली गईं। रसस्रोत भी अचानक स्थगित हो गया। श्रीकृष्णने देखा रासेश्वरी वहाँ नहीं हैं, तो आप भी रासस्थलीका परित्याग करके उन्हें खोजनेके लिए चल दिए। उपस्थित गोपियोंसे इतना भी नहीं कहा कि मेरी प्रतीक्षा करो, मैं अभी आता हूँ। वास्तवमें राधाजीके सामने उन्हें किसी भी गोपीकी अपेक्षा नहीं है। कामदेवके बाण ही यहाँ राधाजीके प्रेमके बाण हैं। इन बाणोंसे श्रीकृष्ण इतने घायल हो जाते हैं कि स्वयंको सम्भाल नहीं पाते हैं। यथा किसी रुग्ण व्यक्तिके उपचार हेतु स्वस्थ व्यक्तिकी आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार आहत श्रीकृष्णमात्र राधा-दर्शनके उपचारसे ही स्वस्थ हो सकते हैं। अन्यान्य गोपियोंमें ऐसी सामर्थ्य कहाँ? श्रीराधा ही श्रीकृष्णके लिए सर्ववाञ्छितार्थसाधिका हैं। कन्दर्प-ताप-पीड़ित

श्रीकृष्ण राधाजीका अन्वेषण कर रहे थे, किन्तु प्राप्त नहीं कर पानेपर विरह-तापसे तप्त होकर उनके प्रेमका स्मरणकर अनुतापके अथाह सागरमें गिर पड़े। वे समझ गए कि राधाके साथ उन्होंने अन्य गोपियों जैसा ही व्यवहार किया, राधाके योग्य व्यवहार वह नहीं कर पाए। गिरकर पुनः उठे और अनुतप्त होकर कालिन्दीके तटवर्ती कुञ्जमें उपस्थित हुए, सोचा—हो सकता है कि मेरी प्राणेश्वरी राधिका इस कुञ्जमें आई होंगी। किन्तु उनके वहाँ न मिलनेपर विषाद-सागरमें डूबकर विलाप करने लगे॥१०६॥

ई दुई श्लोकेर अर्थ विचारिले जानि।

विचारिते उठे येन अमृतेर खनि॥१०७॥

श्रीमन्महाप्रभु इन दोनों श्लोकोंके अर्थका विचारकर समझ गए कि इनमें अमृतकी खान भरी पड़ी है और चषक-चषककर अमृतास्वादन करने लगे॥१०७॥

शतकोटि गोपी-सङ्गे रास-विलास।

तार मध्ये एक-मूर्त्ये रहे राधा-पाश॥१०८॥

शतकोटि गोपियोंके साथ श्रीकृष्णने रासविलास किया। उनमेंसे एक श्रीकृष्णमूर्ति श्रीराधाके पास भी विद्यमान थी॥१०८॥

साधारण-प्रेम देखि सर्वत्र 'समता'।

राधार कुटिल-प्रेम हइल 'वामता'॥१०९॥

अपने प्रति श्रीकृष्णका दूसरी गोपियोंके समान प्रेम देखकर राधामें वामता उत्पन्न हो गई, क्योंकि प्रेमका स्वभाव ही कुटिल होता है।

ब्रजमें ऐश्वर्य और माधुर्य पूर्णमात्रामें विराजित रहनेपर भी माधुर्यके अनुगत ही ऐश्वर्य वहाँपर प्रच्छन्न रूपसे रहता है और यदाकदा अवकाश मिलनेपर श्रीकृष्णकी सेवा करने लगता है, श्रीकृष्णका त्याग नहीं कर पाता है। रासोत्सवमें जब रासस्थलीमें शतकोटि गोपियाँ उपस्थित हुईं, तब ऐश्वर्यमूर्ति (योगमाया) ने भी शतकोटि श्रीकृष्णकी मूर्तियोंको प्रकटित कर दिया। इस बातको इसी

ऐश्वर्य शक्तिके प्रभावसे श्रीकृष्ण भी नहीं जान सके। हर गोपीने श्रीकृष्णको अपने पास ही समझा। पूर्णानन्दघनमूर्ति रसिकशेखर श्रीकृष्ण जब अपने पास ही हैं, तब उसे दूसरी गोपीकी ओर देखनेका अवकाश ही कहाँ था? हठात् राधिकाजीकी दृष्टि एक गोपीपर पड़ी तो उन्होंने उसके पास श्रीकृष्णको देखा, फिर दूसरी गोपीके साथ भी उनको देखा। उनको प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण एकको छोड़कर दूसरी और दूसरीको छोड़कर तीसरीके पास क्रीड़ा कर रहे हैं। हठात् उन्होंने अपने पास भी श्रीकृष्णको देखा। यह देखकर उन्हें बड़ा ही क्रोध हुआ। उन्होंने यह समझा कि अब तक ये मेरे सामने ही दूसरी गोपियोंके साथ विहारकर अब अन्तमें मेरे पास आए हैं। वे मायावी हैं, लम्पट हैं, मेरे प्रति भी उनके ही जैसा साधारण प्रेम? बस, प्रेममयी राधाके कुटिल प्रेमने वाम्य भाव धारणकर लिया। वे मान करके क्रोधसे रासमण्डलीको छोड़कर चली गई॥१०९॥

अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्।

अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति॥११०॥

(उज्ज्वलनीलमणि, शृङ्गारभेद १०२ श्लोक)

सर्पकी गतिके समान प्रेमकी गति भी स्वाभाविक रूपसे कुटिल होती है। अतः कभी सहेतु और कभी निर्हेतु युवक-युवतियोंमें मान उत्पन्न होता ही रहता है॥११०॥

क्रोध करि' रास छाडि' गेला मान करि'।

तारै ना देखिया व्याकुल हइल हरि॥१११॥

सम्यक् वासना कृष्णोर, इच्छा रासलीला।

रासलीला-वासनाते राधिका शृङ्खला॥११२॥

ताँहा बिना रासलीला नाहि तारँ चित्ते।

मण्डली छाड़िया गेला राधा अन्वेषिते॥११३॥

इतस्ततः भ्रमि' काहाँ राधा ना पाइया।

विषाद करेन कामबाणे खिन्न हजा॥११४॥

राधाजीको सहेतुक मान हो गया और वे मान करके रासमण्डली छोड़कर चली गई। श्रीहरिने जब उन्हें रासस्थलीमें नहीं देखा तो वे विकल हो उठे। श्रीकृष्णकी रासलीला ही सम्यक् रूपसे सारभूता इच्छा है अर्थात् प्रधान वासना है। रासलीलाकी वासनाको बद्ध करनेके लिए राधाजी ही प्रधान शृंखला हैं। राधाके बिना श्रीकृष्णको हृदयमें रासलीला अच्छी नहीं लगती, अतः वे भी रासमण्डलीको छोड़कर राधाका अन्वेषण करनेके लिए चल दिए। इधर-उधर ढूँढ़नेपर भी कहीं राधाका जब पता नहीं चला, तो वे काम-बाणसे विषण्ण होकर विषाद करने लगे।

यहाँ राधाका क्रोध स्वेच्छापूर्वक नहीं है; क्योंकि उनमें स्वसुख वासनाका लेशमात्र भी नहीं है। प्रेमका स्वभाव कुटिल होता है। अतः उसमें वामता इत्यादि स्वतः ही आ जाती है, जो वस्तुतः प्रेमके आस्वादनकी अभिवृद्धि ही करती है। रासलीलाकी वासना ही सर्वप्रधान वासना है, जिसको श्रीराधा ही आबद्ध रखती हैं अर्थात् पूर्ण कर सकती हैं। अतः उन्हें शृंखलाकी उपमा दी गई है। रासलीलाकी यह वासना श्रीकृष्णमें श्रीराधाजीके कारण रहती है। इसलिए वही परम लीलाश्रय हैं। अतः शतकोटि गोपियोंके सम्मुख ही वे भी वहाँसे चल दिए। अतः यह स्पष्ट ही है कि श्रीकृष्ण राधाको चोरी-छिपे नहीं ले गए। राधाजी मानके कारण स्वयं ही रासस्थली छोड़कर चली गई। कामाहत श्रीकृष्णसे तात्पर्य प्राकृत कामवासनासे नहीं है, बल्कि प्रियतम-प्रियतमाकी परस्पर सुखी करनेकी उत्कण्ठा ही यहाँ 'काम' शब्दसे अभिहित हुई है। राधाजीकी शृङ्गार-परक सेवा-वासना चरम कोटिकी है। श्रीकृष्ण भी उनकी वाञ्छाको जब तक पूर्ण नहीं करते, तब तक उनका हृदय पीड़ित ही रहता है ॥१११-११४॥

शतकोटि-गोपीते नहे काम-निर्वापण।

ताहातेई अनुमानि श्रीराधिकार गुण ॥”११५ ॥

रासस्थलीमें शतकोटि गोपियाँ भी श्रीकृष्णके कामका निर्वापण नहीं कर सकीं, इससे ही राधाजीके गुणोंका अनुमान लगाया जा सकता है।

श्रीराधाके बिना श्रीकृष्णकी कान्ताप्रेम-आस्वादनकी वासना पूर्ण नहीं हो सकी। अतः सुसिद्ध है कि राधाकी प्रेम-महिमा असमोर्द्ध्व है ॥११५॥

प्रभु कहे,—“ये लागि’ आईलाम तोमा-स्थाने।

सेई सब तत्त्ववस्तु हैल मोर ज्ञाने ॥११६॥

श्रीराय रामानन्दजीके उल्लिखित प्रेमतत्त्वके इस गम्भीर विवेचनाको सुनकर महाप्रभुजी बड़े सन्तुष्ट हुए और गद्गद-कण्ठसे बोले—राय ! जिस कार्यके लिए मैं आपके पास आया था, उन सभी तत्त्व-वस्तुओंका ज्ञान मुझे आपसे प्राप्त हो गया। मेरा आपके पास आना सार्थक हुआ ॥११६॥

एवे जानिलूँ साध्य-साधन-निर्णय।

आगे आर आछे किछु, शुनिते मन हय ॥११७॥

अब मैंने साध्य-साधन तत्त्वका निर्णय जान लिया। किन्तु आगे कुछ और कहिए, मेरा मन उसे सुनना चाहता है ॥११७॥

‘कृष्णेर स्वरूप’ कह ‘राधार स्वरूप’।

‘रस’—कोन् तत्त्व, ‘प्रेम’—कोन् तत्त्वरूप ॥११८॥

कृपा करि’ एइ तत्त्व कह त’ आमारें।

तोमा-विना केह इहा निरूपिते नारे ॥११९॥

श्रीरामानन्द रायके मुखसे साध्य-साधनका इतना गम्भीर विवेचन सुनकर भी श्रीमन्महाप्रभुका कौतूहल शान्त नहीं हुआ। मानों वे राधाजीके स्वरूपकी और भी कुछ विशेष महिमा जानना चाहते थे। इसीलिए भङ्गीपूर्वक पूछा—रामानन्दजी ! श्रीकृष्णका स्वरूप क्या है ? इसे बताइए, श्रीराधाजीका स्वरूप भी कहिए, रसतत्त्व क्या है और प्रेमतत्त्वका स्वरूप क्या है ? कृपा करके इन सब तत्त्वोंको मुझे बताइए, आपके बिना इन तत्त्वोंका कोई भी निरूपण नहीं कर सकता ॥११८-११९॥

राय कहे,—“इहा आमि किछुई ना जानि।
 तुमि येई कहाओ, सेई कहि वाणी ॥१२०॥
 तोमार शिक्षाय पड़ि येन शुक-पाठ।
 साक्षात् ईश्वर तुमि, के बुझे तोमार नाट ॥१२१॥
 हृदये प्रेरण कर, जिह्वाय कहाओ वाणी।
 कि कहिये भाल-मन्द, किछुई ना जानि ॥१२२॥

श्रीमन्महाप्रभुके प्रश्नोंको सुनकर राय रामानन्दजीने कहा—मैं इस विषयमें कुछ भी नहीं जानता हूँ। आप मेरी वाणीसे जो कुछ भी कहलवाते हैं, मेरी वाणी वही कहती है। आपसे ही शिक्षा प्राप्त करके मैं तोतेके समान केवल पाठ कर रहा हूँ। आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, आपके नाट्यको भला कौन जान सकता है। अन्तर्यामी रूपसे आप हृदयमें जो कुछ प्रेरणा करते हैं, जिह्वा उसी वाणीको कह देती है। भला या बुरा क्या कह रहा हूँ—मैं कुछ भी नहीं जानता ॥१२०-१२२॥

प्रभु कहे,—मायावादी आमि त' संन्यासी।
 भक्तितत्त्व नाहि जानि, मायावादे भासि ॥१२३॥

रामानन्दजीकी विनीत वाणीको श्रवणकर महाप्रभु कहने लगे—मैं तो मायावादी संन्यासी हूँ। भक्तितत्त्वको कैसे समझ सकता हूँ? हर समय मायावादमें ही तो उलझा रहता हूँ। श्रीमन्महाप्रभुके इन वचनोंको आत्मगोपन करनेके लिए दैन्योक्ति समझना चाहिए ॥१२३॥

सार्वभौम-सङ्गे मोर मन निर्मल हइल।
 'कृष्णभक्ति-तत्त्व कह', ताँहारे पुछिल ॥१२४॥
 तेंहो कहे,—‘आमि नाहि जानि कृष्णकथा।
 सबे रामानन्द जाने, तेंहो नाहि एथा ॥’ ॥१२५॥

सार्वभौमके साथ रहकर मेरा मन निर्मल हुआ। मैंने उनसे कृष्णभक्तितत्त्व कथाके विषयमें पूछा था। किन्तु उन्होंने मुझसे कहा

कि मैं कृष्णकथाको नहीं जानता हूँ। रामानन्दजी ही सब कुछ जानते हैं, परन्तु इस समय वे यहाँ नहीं हैं ॥१२४-१२५॥

तोमार ठाजि आइलाड तोमार महिमा शुनिया।

तुमि मोरे स्तुति कर 'संन्यासी' जानिया ॥१२६॥

रामानन्द! आपकी महिमा सुनकर मैं आपके पास आया। किन्तु आप मुझे संन्यासी समझकर मेरी ही स्तुति करने लगे ॥१२६॥

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।

येई कृष्णतत्त्ववेत्ता, सेई 'गुरु' हय ॥१२७॥

चाहे विप्र हों या संन्यासी हों, अथवा शूद्र ही क्यों न हों, जो कृष्णतत्त्वविद हैं, वे ही वास्तवमें गुरु हैं।

इन पयारोंसे महाप्रभुजीका आशय यह है कि रामानन्द राय कहीं अपने मनमें यह विचार न कर लें कि महाप्रभुजीने तो ब्राह्मणकुलमें जन्म ग्रहण किया है, अधिकन्तु संन्यासी भी हैं। अतः वे शूद्रसे धर्म-दीक्षा किस प्रकार ग्रहण कर सकते हैं? जो वर्णाश्रमरूप धर्मशिक्षा एवं दीक्षा लेना चाहते हैं, उन्हें ही ब्राह्मण-गुरुकी प्रयोजनीयता होती है। कृष्णतत्त्वज्ञान तो समस्त जीवोंका परमार्थ है। सिद्धान्त भी यही है कि जिसमें भक्तितत्त्वका ज्ञान है, वही गुरु है। “तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।” मुण्डकोपनिषद् (१/२/१२) में कहा गया है कि उक्त परमतत्त्व वस्तुको जाननेके लिए हाथमें समिधा लेकर वेदज्ञ ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके निकट गमन करे।

वर्णोत्तमेऽथ च गुरौ सति या विश्रुतेऽपि च।

स्वदेशतोऽथ वान्यत्र नेदं कार्यं शुभार्थिना ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास १/५१)

अर्थात् हीन-वर्णके व्यक्ति मन्त्र-प्रदानादि कार्य न करें। उच्चवर्णीय योग्यपुरुष हीनवर्ण व्यक्तिसे कृष्णमन्त्र न लें। ये सभी सिद्धान्त उनके लिए हैं, जिनको जातिका अभिमान है। यह साधारण-विधि है। किन्तु

जाति-अभिमानसे रहित शुद्ध भक्तिपरायण लोगोंके लिए यह विधि नहीं है। उनके लिए कृष्णतत्त्ववेत्ता, भजनविज्ञ, रसिक भक्त जनोंको ही गुरुरूपमें वरण करना चाहिए, चाहे वे शूद्र या ब्राह्मण कुलके ही क्यों न हों।

सात्त्वत शास्त्रोंमें विष्णुमन्त्रसे दीक्षा प्राप्त व्यक्तिको 'द्विजाधिक'—द्विजसे भी श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि साधारण विप्रका तो कर्मकाण्डमें ही अधिकार होता है, जबकि विष्णुदीक्षामें दीक्षित व्यक्ति श्रेष्ठ भागवत धर्मका अधिकारी होता है। चैतन्यभागवतमें कहा गया है कि यवन हरिदासको परब्रह्मके उस प्रकारके दर्शन हुए, जो श्रेष्ठ वर्णके लोगोंकी कौन कहे, वर्णोंके सृष्टिकर्ता ब्रह्माको भी दुर्लभ है।

श्रीजीवगोस्वामीने भक्तिसन्दर्भमें गरुडपुराणका प्रमाण देते हुए कहा है कि सहस्र ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक याज्ञिक ब्राह्मण श्रेष्ठ है, सहस्र याज्ञिक ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक विष्णुभक्त श्रेष्ठ है और सहस्र विष्णुभक्तोंकी अपेक्षा एक ऐकान्तिक कृष्णभक्त श्रेष्ठ है।

श्रीनरोत्तम ठाकुर, श्रीनरहरि सरकार ठाकुर, श्रीमुकुन्द दत्त, श्रीकानु ठाकुर, श्रीश्यामानन्द प्रभु, श्रीरसिकानन्द प्रभु आदि आचार्य कायस्थ, वैद्य, गोप और करणादि जातिमें आविर्भूत हुए थे; किन्तु अनेकों ब्राह्मणों और क्षत्रियोंने इनसे दीक्षा ग्रहण की थी। यही सभी सत्-शास्त्रोंका अभिमत है। वस्तुतः गुरु किसी भी वर्ण या जातिका हो, उसका वैष्णव होना आवश्यक है। इस सम्बन्धमें हरिभक्तिविलासमें पद्मपुराणका यह श्लोक उद्धृत किया गया है—

महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः।

सहस्र शाखाध्यायी च न गुरुः स्यादवैष्णवः॥

गृहीत विष्णु-दीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।

वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास १/४०-४१, धृत पद्मपुराण वचन)

अर्थात् महा उत्तम कुलमें जन्म ग्रहण करनेवाला, सब यज्ञोंमें दीक्षित एवं सहस्र शाखाध्यायी ब्राह्मण भी यदि वैष्णव नहीं है, तो वह गुरु होने योग्य नहीं है। वैष्णव वही है, जो विष्णुमन्त्रमें विधिवत

दीक्षित और विष्णुपूजा परायण है। उसके अतिरिक्त और कोई वैष्णव नहीं है।

विष्णुमन्त्रमें विधिवत दीक्षित होनेका अर्थ है कि गुरु सम्प्रदायी होना चाहिए। उसे विशुद्ध एवं अविच्छिन्न गुरु-परम्परामें मन्त्रसिद्ध आचार्यसे विष्णुमन्त्र प्राप्त करना चाहिए। श्रीगौतमीयतन्त्रमें कहा है—“सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मताः” जो मन्त्र आमनाय परम्परासे, अर्थात् श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, नारदादि ऋषियोंके माध्यमसे गुरु परम्पराक्रमसे प्राप्त नहीं हुआ होता, वह मन्त्र निष्फल होता है।

श्रीजीवगोस्वामीपाद कहते हैं—‘विप्र’ का अर्थ है, परा विद्यामें प्रवीण। परम विद्या है ‘भक्ति’। इसलिए विप्रत्वका अर्थ है ‘भक्तिनिपुणता’। श्रीसंक्षेप वैष्णवतोषणी (१०/१६/२) में इस सिद्धान्तको पुष्ट करते हुए कहा है कि “वेद पाठाद् भवेद् विप्रः”—वेदपाठी ही विप्र है। वेद-पाठका मुख्य फल है—‘दिव्यज्ञान’ जो वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करनेवाले व्यक्तिको दीक्षाके साथ ही हो जाता है, क्योंकि उसे दीक्षाके समय जो मन्त्र मिलता है, उससे उसे अपने भगवान्‌के साथ सम्बन्धका ज्ञान हो जाता है। दीक्षाके साथ ही दीक्षा प्राप्त व्यक्तियोंको विप्रत्व भी आनुसंगिक रूपसे प्राप्त हो जाता है॥१२७॥

‘संन्यासी’ बलिया मोरे ना करिह वञ्चन।

कृष्ण-राधा-तत्त्व कहि’ पूर्ण कर मन॥”१२८॥

रायजी! संन्यासी समझकर मेरी वञ्चना मत कीजिए। श्रीकृष्ण एवं राधातत्त्वोंका वर्णनकर मेरे मनोरथको पूर्ण कीजिए॥१२८॥

यद्यपि राय—प्रेमी, महाभागवते।

ताँर मन कृष्णमाया नारे आच्छादिते॥१२९॥

तथापि प्रभुर इच्छा—परम प्रबल।

जानिलेह रायेर मन हैल टलमल॥१३०॥

यद्यपि राय रामानन्दजी प्रेमसे परिपूर्ण महाभागवत हैं, उनका मन कृष्णमायासे आच्छादित नहीं हो सकता, तथापि महाप्रभुजीकी इच्छा

अति प्रबल है, जिससे राय रामानन्दका मन महाप्रभुके स्वरूपको जानते हुए भी चञ्चल हो गया।

यद्यपि राय जानते थे कि श्रीचैतन्य रूपमें साक्षात् भगवान् उनके सामने अवस्थित हैं और उन्होंने ऐसा मन्तव्य प्रकाश भी किया है। लेकिन चैतन्य महाप्रभुकी प्रबल इच्छाके प्रभावसे राय उनके स्वरूपको विस्मृत हो जाते थे और उनके प्रश्नोंका उत्तर दे देते थे। महाप्रभुजीकी भी प्रबल इच्छा यह थी कि श्रीरामानन्द सभी तत्त्वोंको सम्यक् प्रकारसे प्रकाशित कर सकें ॥१२९-१३०॥

राय कहे,—“आमि—नट, तुमि—सूत्रधार।

येई मत नाचाओ, सेइ मत चाहि नाचिवार ॥१३१॥

मोर जिह्वा—वीणायंत्र, तुमि—वीणाधारी।

तोमार मने येई उठे, ताहाई उच्चारि ॥१३२॥

श्रीराय रामानन्दजीने कहा—मैं तो नट हूँ और आप सूत्रधार हैं। आप जैसे मुझे नचाएँगे, मैं वैसे ही नाचूँगा। मेरी जिह्वा तो वीणा-यन्त्र है और आप वीणाको धारणकर उसका सञ्चालन करनेवाले, बजानेवाले हैं। आपके मनमें जो श्रवण करनेकी इच्छा होती है, मैं वही कहता हूँ ॥१३१-१३२॥

परम ईश्वर कृष्ण—स्वयं भगवान्।

सर्व—अवतारी, सर्वकारण—प्रधान ॥१३३॥

अनन्त वैकुण्ठ, आर अनन्त अवतार।

अनन्त ब्रह्माण्ड ईहा,—सबार आधार ॥१३४॥

सच्चिदानन्द—तनु, व्रजेन्द्रनन्दन।

सर्वैश्वर्य—सर्वशक्ति—सर्वरस—पूर्ण ॥१३५॥

श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर और स्वयंभगवान् हैं। वे सभी अवतारोंके अंशी अर्थात् मूल हैं और सभी कारणोंके प्रधान कारण हैं। अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त अवतार और अनन्त ब्रह्माण्ड इन सबके मूलाधार श्रीकृष्ण ही हैं। वे सत्-चित्-आनन्दमय विग्रह हैं, फिर भी

ब्रजेश नन्द बाबाके तनय हैं। तत्त्वतः अजन्मा और सबके आदि होनेपर भी नन्द बाबाके नित्य पुत्र हैं। केवल नन्द बाबामें ही “मैं कृष्णका पिता हूँ” यह अभिमान है—ऐसा नहीं; श्रीकृष्णमें भी “मैं नन्द-यशोदाका पुत्र हूँ” यह नित्य अभिमान रहता है। वे समस्त ऐश्वर्योंके, समस्त शक्तियोंके ईश हैं, और समस्त रसोंमें परिपूर्णतम रसस्वरूप हैं—रसो वै सः ॥१३३-१३५॥

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥१३६॥

(ब्रह्मसंहिता ५/१)

रामानन्द रायने पूर्व पयारमें श्रीकृष्णको स्वयंभगवान् कहा है, प्रस्तुत श्लोकको यहाँ उसीके प्रमाणस्वरूप उल्लेख कर रहे हैं। सत्, चित् एवं आनन्दमय विग्रह श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वरेश्वर हैं। वे स्वयरूप, अनादि, किन्तु सबके आदि हैं। वे गोविन्द हैं तथा समस्त कारणोंके कारणभूत मूल कारण हैं।

प्रस्तुत श्लोकमें श्रीकृष्णको ईश्वरः परमः कहा गया है। जिसका तात्पर्य है कि वे श्रीकृष्ण ही परमेश्वर, स्वयंभगवान् हैं—“एते चांश कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।” यहाँ कृष्ण विशेष्य पद है, शेष सभी पद विशेषण हैं। श्रीब्रह्माजीने देवर्षि नारदसे कहा—हे अनघ! हे निष्पाप! मैंने तुम्हारे निकट असंख्य अवतारोंका वर्णन किया है। उनमें श्रीकृष्णकी भी गणना की है। इससे कोई यह न समझ ले कि श्रीकृष्ण भी त्रिविध पुरुषोंके ही अवतार हैं। श्रीकृष्ण सभी अवतारों, यहाँ तक कि श्रीराम और श्रीनृसिंह आदि अवतारोंके भी अवतारी हैं। अतः सार स्वरूप कहता हूँ—श्रीकृष्ण ही स्वयंभगवान् हैं।

अवताराः ह्यसंख्याताः कथिता मे तवाग्रतः।

परं सम्यक् प्रवक्ष्यामि कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्॥

(श्रीकृष्णसंहिता ८२ अध्याय)

श्रीकृष्णाविर्भावके समय भी गर्गाचार्यजीने कहा था—“कृष्णतां गतः” अर्थात् कृष्णस्वरूपतां गतः। पूर्व-पूर्व युगोंमें अवतार लेनेवाला

यह बालक अब कृष्णवर्ण ग्रहणकर अवतीर्ण हुआ है। अर्थात् जितने भी अवतार हैं, वे सभी कृष्णस्वरूपमें प्रवेशकर कृष्णमयताको प्राप्त हुए हैं। “पयसा कुम्भं पूरयति”—न्यायसे शास्त्रोंमें सर्वत्र ‘श्रीकृष्ण’ की पुनरावृत्ति की गई है। जो सर्वेसर्वा हैं, परात्पर तत्त्व हैं, अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं, वे ही श्रीकृष्ण नामसे अभिहित हैं। प्रभासखण्ड एवं पद्मपुराणके अन्तर्गत श्रीनारद-कुशध्वज-संवादमें श्रीभगवान्की उक्ति है—“नाम्नां मुख्यतमं नाम कृष्णाख्यं मे परंतप”—हे परंतप! नामोंमें मेरा मुख्यतम नाम कृष्ण है।

प्रस्तुत “ईश्वरः परमः कृष्णः” श्लोकमें श्रीब्रह्माजीने गोविन्द नामके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति की है। गोविन्द स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। गो-गोप-गोपी आदि व्रजजनोंके जो पालक हैं—वे हैं श्रीगोविन्द। गोविन्दका वैशिष्ट्य है—गवेन्द्रत्व।

‘कृष्ण’ शब्दका व्युत्पत्तिगत अर्थ है—“कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्ति वाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते”—प्रस्तुत श्लोकमात्र कृष्णपरक है ‘कृष’ धातु भू-सत्तावाचक और ‘ण’ निर्वृत्तिवाचक अर्थात् आनन्द वाचक है। श्रीकृष्णकी उपासना सम्बन्धी ग्रन्थ सात्वत-तन्त्र-गौतमीयतन्त्रमें कहा गया है—

कृषि शब्दस्य सत्तार्थो णश्चानन्दस्वरूपकः।

सुखरूपो भवेदात्मा भवानन्दमयस्ततः॥

अर्थात् ‘कृषि’ शब्द सत्तावाचक और ‘ण’ आनन्दस्वरूप है अर्थात् जो परमानन्दमय सत्ता विशेष हैं अथवा जो सबको आकर्षित करनेवाले एवं आनन्द विधाता हैं—वे श्रीकृष्ण हैं। वे सुखस्वरूप एवं परमानन्दमय हैं। “सदैव सौम्य इदमग्रमासीत्”—अर्थात् हे सौम्य! सृष्टिसे पहले एकमात्र सत्-स्वरूप भगवान् ही थे, उनमें ही सर्वानन्दकन्दत्व है। वासुदेवोपनिषद्में भी लिखा है—देवकीनन्दनो निखिलमानन्दयेत् अर्थात् देवकीनन्दन श्रीकृष्ण चराचर विश्वके समस्त प्राणियोंको आनन्दित करते हैं। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं—“गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्” (भागवत), “योऽसौ परं ब्रह्म” (गोपालतापनी)। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्यसुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(श्रीगी. १४/२६)

निर्गुण सविशेषतत्त्वस्वरूप में ही ज्ञानियोंकी चरमगति ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हैं। अमृतत्त्व, अव्ययत्त्व, नित्यत्त्व, नित्य धर्मरूप प्रेम और ऐकान्तिक-सुखरूप ब्रजरस—ये सभी इस निर्गुण सविशेष तत्त्वरूप श्रीकृष्णस्वरूपके आश्रित हैं—कृष्णो वै परमं दैवतम्। जैसे श्रीकृष्ण परमपुरुष हैं, वैसे ही आदि पुरुष भी हैं—

श्रुत्वाऽजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः।

आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह॥

(श्रीमद्भा. १०/७२/१५)

इस आधारपर आद्यो हरिः अर्थात् श्रीकृष्ण ही आदि हरि हैं, यह निश्चित होता है। उनका आदित्व केवल इसलिए नहीं है कि वे सभी अवतारोंके अवतारी हैं, बल्कि इसलिए भी कि वे अनादि हैं, उनका कोई आदि नहीं है। वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं, विग्रह ही आत्मा है और आत्मा ही विग्रह है—“आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्।”

ब्रजमें उनकी जब बाल्य, पौगण्ड तथा कैशोरावस्थाकी लीलाएँ होती हैं, तब उनको ब्रजेन्द्रनन्दन या गोविन्द कहा जाता है। श्रीसूतजी कहते हैं—

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्णयुषभावनिधु-

ग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।

गोविन्द गोपवनिता-ब्रजभृत्यगीत-

तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान्॥

(श्रीमद्भा. १२/११/२५)

अर्थात् हे कृष्ण! हे कृष्णसख! हे वृष्णिकुलश्रेष्ठ! हे पृथ्वीद्रोही-राजन्यवंश-दहनकारिन्! हे श्रवण मङ्गलस्वरूप! हे गोपवनिता आदि ब्रजजनोंके द्वारा कीर्तित पुण्यकीर्तिशालिन्! हे गोविन्द! हे श्रीकृष्ण! आप हम भृत्यजनोंकी रक्षा करें। दशमस्कन्धमें श्रीगोविन्द नामसे

श्रीकृष्णका अभिषेक करते हुए सुरभीने कहा है—“त्वं न इन्द्रो जगत्पते” (श्रीमद्भा. १०/२७/२०)—हे अचिन्त्य महाशक्तियुक्त! हे विश्वान्तर्यामिन्! हे विश्वसम्भव! हे अच्युत! हे श्रीकृष्ण! हे जगत्पते! आप ही हमारे इष्टदेवता हैं। आप ही जगतके पति हैं, इन्द्र नहीं। और अभिषेक करनेके पश्चात् उन्हें ‘श्रीगोविन्द’ नाम दिया (श्रीमद्भा. १०/१६/२९)। इसी प्रसङ्गके अन्तमें श्रीशुकदेवगोस्वामीने भी अपनी प्रार्थनामें ऐसी ही अभिव्यक्ति की है—‘गोविन्द’—इति चाभ्यधात् एवं ‘प्रीयात्र इन्द्रो गवाम्’—अर्थात् गायोंके इन्द्र गोविन्द आप हमारे ऊपर प्रसन्न हों। गौतमीयतन्त्रमें वर्णित है—

गोपी तु प्रकृतिं विद्याज्जनस्तत्त्वसमूहकः।
 अनयोरश्रयो व्याप्त्या कारणत्वेन चेश्वरः॥
 सान्द्रानन्दं परं ज्योतिर्वल्लभेन च कथ्यते।
 अथवा गोपी प्रकृतिर्जनस्तदंशमण्डलम्॥
 अनयोर्वल्लभः प्रोक्तः स्वामी कृष्णश्च ईश्वरः।
 कार्यकारणयोरीशः श्रुतिभिस्तेन गीयते॥
 अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा।
 नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धन!॥

जो गो, भूमि और वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, जो इन सबको प्राप्त होकर अवस्थान कर रहे हैं, वे श्रीगोविन्ददेव हैं। जो अतुलनीय ऐश्वर्य और माधुर्यसे परिपूर्ण होकर भी गोसमूहसे परिवेष्टित होकर स्वतन्त्र लीला विस्तार परायण हैं, जो समस्त भुवनोंमें और समस्त वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, अर्थात् जो श्रीनन्द-गोकुलमें अपने व्रजजनमनोहारी नव जलधर श्यामसुन्दर रूपमें विराजमान रहकर सुमधुर लीलाका विस्तार कर रहे हैं, समस्त भुवन एवं वेदसमूह जिनकी लीला-माधुरीका उच्चस्वरसे गान कर रहे हैं, वे गोपाल वेशधारी गोकुलचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र ही ‘गोविन्द’ शब्द वाच्य हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माजीके हृदयमें जितना ही अधिक प्रेमरस प्रकट होता गया, उतनी ही उनकी मधुरमूर्ति प्राप्त हेतु लालसा बढ़ती गई। पहले गोविन्दस्वरूप कृष्णमें अर्थात् व्रजराजनन्दन और

माता यशोदाके प्राणधन 'गोपाल' में आत्मसमर्पण करने लगे—जब यह प्रेमरस परिपक्व हुआ, तब रसिक-हृदय ब्रह्माजी कमलनयना व्रज-ललनाओंके द्वारा परिवेष्टित श्रीकृष्णके उस परम सुन्दर नवकिशोर नटवर श्यामसुन्दर मदनमोहनकी मूर्तिको पानेके लिए व्याकुल हो गये—'गोपीजनवल्लभ' कृष्णमें आत्मसमर्पण कर दिया। ब्रह्माजीके गोपीप्रेमरस पिपासु-व्याकुल हृदयमें "कृष्णाय स्वाहा" अथवा "कृष्णाय गोविन्दाय स्वाहा" कहकर तृप्ति नहीं होती, उनकी तृप्ति तो "कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय" कहकर ही होती है।

'गुप' धातुसे 'गोपी' शब्द बना है जिसका अर्थ है—रक्षा करना, पालन करना। आशय यह है श्रीकृष्णकी जो विशिष्ट शक्ति है, वह प्रेमदानकर भक्तोंका पालन करती है, उसीको ह्लादिनीशक्ति कहते हैं—इस शक्तिका नाम है 'राधा', 'गोपीजन' से तात्पर्य है—“गोपी अर्थात् राधा जन अर्थात् तदंश मण्डल।” राधाके अंशमण्डल अर्थात् कायव्यूहरूपा गोपीमण्डल। 'गोपीजन' शब्दसे राधिका और तदीय कायव्यूहरूपा ललिता, विशाखा आदिको समझना चाहिए। इनके वल्लभ—प्राणप्रियतम श्रीकृष्ण हैं, गोपीजनवल्लभ नित्य राधालिङ्गित श्रीविग्रह हैं। अतएव गोपीजनवल्लभ कहनेसे स्वाभाविक रूपसे श्रीराधाकृष्ण-युगल ही अभीष्ट है ॥१३६॥

वृन्दावने 'अप्राकृत नवीन मदन'।

कामगायत्री, कामबीजे याँर उपासन ॥१३७॥

पुरुष, योषित्, किवा स्थावर-जङ्गम।

सर्व-चिन्ताकर्षक, साक्षात् मन्मथ-मदन ॥१३८॥

श्रीकृष्ण वृन्दावनमें अप्राकृत नवीन मदन हैं। कामगायत्री और कामबीजसे उनकी उपासना होती है, पुरुष हो या स्त्री, स्थावर हो अथवा जङ्गम, वे सभी प्राणियोंके चित्तको आकर्षित करनेवाले हैं और साक्षात् मन्मथ-मन्मथ हैं।

रसिकशेखर नन्दनन्दन श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावनमें गोपी अर्थात् कमलनयना, नवीना, व्रजसुन्दरियोंके द्वारा परिवृता श्रीराधिकाके साथ मदनमोहन रूपमें विराजमान हैं। उनकी प्राप्ति कर लेनेपर उनकी प्राप्तिकी

अभिलाषा और भी अधिक बढ़ती जाती है। उनका सौन्दर्य एवं माधुर्य भी क्षण-क्षणमें नित्य नवीन अनुभूत होता जाता है। अतः वे अप्राकृत नवीन मदन कहे जाते हैं। उनका यह मदनत्व उपासकोंके हृदयमें अति तीव्र कामना उत्पन्न करके मत्तता उत्पन्न करता है। उनका अभिनव मदन स्वरूप प्रकृतिसे अतीत है। सामान्यतः जड़वादी मदनका जिस अर्थमें व्यवहार करते हैं, प्राकृत जगतमें मांसपिण्डके प्रति जो आकर्षण है, वह नितान्त प्राकृत एवं घृणास्पद कामतत्त्व है। देहाभिमानि इसी जड़ मदनसे आबद्ध होकर प्राकृत कामकी अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। जब कृष्ण-सम्बन्धतत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तब जीवकी अप्राकृत चिन्मय अवस्थामें स्थिति होने लगती है। यह चिन्मय अवस्था दो प्रकारकी होती है—स्वरूपगत एवं वस्तुगत। प्रारम्भिक स्थितिमें साधक अभी जड़ सम्बन्धसे विगत नहीं हुआ है, उसमें चिन्मयत्वका कथञ्चित् उदय हुआ है। अतः 'स्वरूपतः' वह वृन्दावनमें अवस्थित है, वस्तुतः नहीं। जब स्थूल एवं लिङ्गमय जड़त्व समाप्त हो जाता है, तब कृष्णेच्छाक्रमसे उसकी वृन्दावनमें वस्तुतः स्थिति होती है। इस समय साधनावस्थामें जीव कामगायत्री और चिन्मय कामबीजसे श्रीकृष्णकी उपासना करता है। "गायन्तं त्रायते यस्मात् गायत्री त्वं ततः स्मृतः" अर्थात् जो मन्त्रजप करनेवालेकी रक्षा करता है, उसे गायत्री कहते हैं। कामगायत्री अप्राकृत नवीनमदन श्रीकृष्णके स्वरूपका द्योतक है। इसका जप करनेसे श्रीकृष्णका अप्राकृत नवीनमदन रूप चित्तमें स्फुरित होता है, और स्फूर्त होनेपर ध्याताकी उस रूपको प्राप्ति करनेकी कामना बलवती होती जाती है।

हयशीर्षपंचरात्रमें कहा गया है—तत्त्वदर्शी विद्वज्जन वाच्य, वाचक, देवता और मन्त्रको एक या अभेद रूपमें वर्णन करते हैं। कामबीज है 'क्लीं'—जिस प्रकार कामगायत्री साधारण वैदिक गायत्रीका रसात्मक स्वरूप है, उसी प्रकार कामबीज प्रणव अर्थात् ॐ का रसात्मक रूप है ('क', 'ल', 'ई', बिन्दु और अनुस्वार इन अक्षरोंसे क्लीं निष्पन्न होता है। बृहद्गौतमीयतन्त्रमें कहा गया है—

ककारः पुरुषः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
 ई-कारः प्रकृती राधा नित्य वृन्दावनेश्वरी॥
 लश्चानन्दात्मकं प्रेमसुखं तयोश्च कीर्तितम्।
 चुम्बनानन्दमाधुर्यं नादबिन्दुः समीरितः॥

‘क’ कार अर्थात् सच्चिदानन्द विग्रह परमपुरुष श्रीकृष्ण, ‘ई’ कार अर्थात्—परम प्रकृति नित्य वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा, ‘ल’ कार अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्णका आनन्दमयसुख और ‘नादबिन्दु’ से तात्पर्य है—उन दोनोंका परस्पर चुम्बनानन्दरूप माधुर्य। कामगायत्री श्रीकृष्ण-स्वरूपमयी है। इसमें साढ़े चौबीस अक्षर हैं जो सम्पूर्ण जगतको श्रीकृष्ण-प्राप्तिके लिए कामातुर कर देते हैं। ‘कम्’ धातुसे काम शब्दकी निष्पत्ति होती है—स्पृहणीय वस्तु ही काम है—कामदेव अर्थात् सौन्दर्य-माधुर्य वैदग्ध्यादि गुणोंसे युक्त शृङ्गार-रसराज-मूर्ति अप्राकृत-नवीन-मदनरूप-मदनमोहन श्रीकृष्ण। का, म, दे, वा, य, वि, द्य, हे, पु, ष, बा, णा, य, धी, म, हि, त, त्रो, न, ङ्गः, प्र, चो, द, या, त्—इन पञ्चीस अक्षरोंमें कामदेवायका ‘य’ अन्तःस्थ वर्ण आधा अक्षर ही माना गया है। नाम, मन्त्र, विग्रह तथा स्वरूप ये चारों एक ही रूप होते हैं। कामगायत्रीका एक-एक अक्षर एक-एक चन्द्रका स्वरूप है। ये साढ़े चौबीस चन्द्र श्रीकृष्णके एक-एक अङ्गमें प्रकाशित हो रहे हैं। अर्द्ध-अक्षरकी शंका होनेपर प्राण त्यागके लिए तत्पर श्रीपाद श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीको श्रीराधाजीने स्वप्नमें कहा—“वि-कारान्त-य-कारेण (च चाद्धाक्षरं) प्रकीर्तितम्।” यही मत वर्णागमभास्वत ग्रन्थका भी है अर्थात् जिस ‘य’ कारके परे ‘वि’ कार आता है, वह अर्द्ध अक्षर ही माना जाता है। “व्यन्त-य-कारोद्धाक्षर ललाटेऽर्द्ध चन्द्रबिम्बः। तदितरं पूर्णाक्षरं पूर्णचन्द्रः इति।” श्रीकृष्णका ललाट ही यह अर्द्धाक्षर रूप अर्द्धचन्द्र है। मन्मथमन्मथ श्यामसुन्दर अपने इस अद्भुत लावण्यमय वेशसे सम्पूर्ण जगतका चित्त आकर्षण कर लेते हैं—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।

मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरं॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत ९२ श्लोक)

श्रीकृष्णकर्णामृतकार कहते हैं—अहो! इस विभु श्रीकृष्णका वपु अति सुमधुर है। उस वपुमें उनका मुखचन्द्र और भी अधिक सुमधुर है—उसमें भी उसकी मृदु सुगन्धि एवं मन्द हास्य उससे भी अधिक सुमधुर—मधुरतम हैं। श्रीकृष्णका सब कुछ ही मधुर, मधुर, मधुर है। इस चरमतम माधुर्यका पूर्णतम विकास श्रीराधाके साथ होता है ॥१३८॥

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।

पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथ—मन्मथः ॥१३९॥

(श्रीमद्भा. १०/३२/२)

जब श्रीकृष्ण रासस्थलीसे गोपियोंकी मण्डलीका त्याग करके अन्तर्धान हो जाते हैं, तब गोपियाँ विरह—कातर होकर विलाप करती हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामी उनके साथ तादात्म्य प्राप्त करते हुए कहते हैं—जब श्रीकृष्ण पुनः व्रजसुन्दरियोंके सामने आविर्भूत हुए, तब वे पीताम्बर धारण किए हुए थे, प्रफुल्लित वनमाल्य शोभा धारण कर रही थी, मुख—अम्बुजपर मधुर स्मित हास्य था, वे साक्षात् मन्मथको भी मन्थन करनेवाले रूपको धारण किए हुए थे।

वस्तुतः व्रजगोपियों और श्रीकृष्णका जो स्वरूपभूत कामदेव है, वह ललना भावमें श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए उपस्थित था, वह साक्षात् कामदेव उस सौन्दर्य—लावण्यको देखकर मूर्च्छित होकर कन्दर्प—शरसे पीड़ित हो उठा था ॥१३९॥

नाना—भक्तेर रसामृत नानाविध हय।

सेइ सब रसामृतेर 'विषय' 'आश्रय' ॥१४०॥

पूर्वकथित शान्त, दास्यादि, पञ्च प्रकारके रसामृतकी उपासना करनेवाले भक्तोंके अनेक भाव हैं—उनके भावोंके अनुरूप अनेक रस हैं। इन समस्त रसोंके उपास्य श्रीकृष्ण हैं और आश्रय (आधार) भी श्रीकृष्ण हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धुमें बारह रस कहे गए हैं। मुख्य—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य एवं गौण—हास्य, करुण, वीर, भयानक, वीभत्स एवं अद्भुत। सबके विषय एवं आश्रय अथवा आस्वाद्य एवं

आस्वादक श्रीकृष्ण ही हैं। उदाहरणार्थ—सख्यरसमें हार जानेपर सखाओंको अपने कन्धेपर चढ़ाते हैं। तब वे सख्यरसके आश्रय बन जाते हैं और जीतनेपर उनके कन्धेपर आरूढ़ होते हैं, तब विषय बन जाते हैं ॥१४०॥

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमर-रुचिरुद्ध-तारका-पालिः।

कलित-श्यामा-ललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥१४१॥

(भ. र. सि. १/१/१)

जिन अखिल-रसामृत-विग्रह श्रीकृष्णने अपनी प्रसरणशील कान्ति द्वारा तारका एवं पाली नामकी दोनों गोपियोंको अवरुद्ध कर रखा है, ललिता एवं श्यामा सखीको वशीभूत कर रखा है एवं जो श्रीराधाजीके अत्यन्त प्रिय हैं, उनकी जय हो, जय हो।

श्लोकमें आए तीन विशेषण पद श्रीकृष्णको समस्त रसोंका एकमात्र विषय प्रतिपादित करते हैं। श्रीकृष्ण रसामृतमूर्ति होकर भी गुण, माधुर्य एवं विदग्धतामें सर्वातिशायिनी राधाजीके रसके एकमात्र परम विषय हैं। फिर भी वे श्रीराधाकी स्वपक्षा ललिताको, विपक्षा तारका या चन्द्रावलीको, सुहृद-पक्षा श्यामला और तटस्थ-पक्षा भद्रा (पाली) को भी वशीभूतकर सब प्रकारकी आश्रयभूता गोपियोंके प्रेमरसका विषय भी हैं। रासलीलामें एकान्तमें प्रेयसी द्वारा पहनाई हुई मालाको गलेमें धारण किए हुए वे 'शौरि' श्रीकृष्ण जब सम्मुख आए तब प्रणय कोपवती राधिकाने कटाक्ष निःक्षेपके साथ श्रीकृष्णकी ताड़ना करते हुए कहा—ओ मायावी शिरोमणे! तुमने हमपर अपने प्रेम-हलाहलका सफल प्रयोगकर हमारे शरीरसे प्राणोंको तो निकाल लिया, अब क्या हमें चितामें जलाने आए हो? राधाजी सर्वकान्ताशिरोमणि, मदीयतामय मधुस्नेहजनित-मान-कुटिलतामयी हैं। राधाजीके बाद दूसरी श्रेणीमें श्यामा एवं ललितादि हैं एवं तीसरी श्रेणीमें तारका तथा पालिकादि हैं ॥१४१॥

शृङ्गार-रसराजमय-मूर्तिधर ।

अतएव आत्मपर्यन्त-सर्व-चित्त-हर ॥१४२॥

समस्त रसोंमें शृङ्गाररस सर्वोपरि है, रसराय है और श्रीकृष्ण इसके तनुधारी मूर्तिमान विग्रह हैं। उनका यह रूप उनके स्वयंके चित्तको भी हरण कर लेता है ॥१४२॥

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
 श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम् ।
 स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
 शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति ॥१४३॥
 (श्रीगीतगोविन्द १/११)

हे सखि! इस वसन्तकालमें विलासरसमें उन्मत्त श्रीकृष्ण मूर्तिमान शृङ्गाररसस्वरूप होकर विहार कर रहे हैं। वे इन्दीवर कमलसे भी अतीव अभिराम कोमल श्यामल अङ्गोंसे कन्दर्प महोत्सवका सम्पादन कर रहे हैं। गोपियोंकी जितनी भी अभिलाषाएँ हैं, उससे भी कहीं अधिक उनकी उन्मत्त लालसाओंको अति अनुरागके साथ तृप्त कर रहे हैं, परन्तु व्रजसुन्दरियाँ विपरीत रतिरसमें आविष्ट हो विवश होकर उनके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गका सम्यक् एवं स्वतन्त्र रूपसे आलिङ्गन कर रही हैं।

अतः यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण शृङ्गार-रसराय-मूर्ति हैं ॥१४३॥

लक्ष्मीकान्तादि अवतारे हरे मन।
 लक्ष्मी-आदि नारीगणेर करे आकर्षण ॥१४४॥

लक्ष्मीकान्त नारायणादि जितने भी भगवत्-अवतार हैं और जितनी भी लक्ष्मी आदि भगवत्-स्वरूपोंकी नारीशक्तियाँ हैं, श्रीकृष्ण सबके मनको आकर्षित करनेवाले हैं।

भूमापुरुष, पुरुषावतार, श्रीनारायण, लक्ष्मी आदि सभीके चित्तोंका कर्षण करनेवाले हैं श्रीकृष्ण ॥१४४॥

द्विजात्मजा मे युवयोर्द्विक्षुणा,
 मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये।

कलावतीर्णाववनेर्भ्रासुरान्,
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥१४५॥

(श्रीमद्भा. १०/८९/५८)

भूमापुरुष श्रीकृष्णसे बोले—सर्वशक्तिसमन्वित हे श्रीकृष्ण! और अर्जुन! तुम दोनोंको देखनेके लिए ही मैं ब्राह्मणबालकोंको अपनी पुरीमें ले आया हूँ। तुम लोग जगतका भार हरणकर धर्मकी रक्षाके लिए कलाके साथ अवतीर्ण हुए हो। पृथिवीके भारस्वरूप दैत्योंका संहारकर पुनः शीघ्र ही आगमन करो।

प्रसङ्ग इस प्रकार है कि एकबार द्वारकामें किसी ब्राह्मणकी पत्नीको पुत्र हुआ और पृथ्वीका स्पर्श होते ही मर गया। उस मरे पुत्रको राजद्वारपर ले जाकर रखते हुए ब्राह्मणने कहा—निःसन्देह ब्राह्मणद्रोही, धूर्त, लोभी तथा विषयी राजाके ही कर्मदोषके कारण मेरे पुत्रकी मृत्यु हुई है। जो राजा दुःशील, हिंसक तथा अजितेन्द्रिय होता है, उस राजाका अनुगमन करनेवाली प्रजा सदा दरिद्र एवं दुःखी रहती है। इसी तरह उस ब्राह्मणके आठ पुत्र हुए और मर गए। ब्राह्मण सभी पुत्रोंके शवको राजद्वारपर रखकर आ जाता था। नवें बालकके मरनेपर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके सन्निकटमें ही कहा—ब्राह्मण! द्वारकामें कोई धनुर्धारी क्षत्रिय नहीं है क्या? इस बार मैं आपके बालककी रक्षा करूँगा। ब्राह्मणने कहा जब मेरे पुत्रोंकी रक्षा भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलराम नहीं कर पा रहे हैं तो आप क्या करेंगे? अर्जुनने कहा—मेरा नाम अर्जुन है, मेरा धनुष गाण्डीव है, यमराजसे भी युद्ध करके आपके बालककी रक्षा करूँगा। इस बार जब ब्राह्मणको पुत्र होनेवाला था, उसने अर्जुनको बतलाया। अर्जुनने अपने बाणोंके जालसे प्रसूतिगृहको एक पिंजड़ेके सदृश घेर दिया। ब्राह्मणका पुत्र जन्मते ही बहुत रोया और एकाएक प्रसूतिगृहसे गायब हो गया। अर्जुन अपनी संयमनी विद्याके बलसे उस बालकका पता लगाने अनेक लोकोंमें गए। जब कहीं पता न चला, तो वे चितामें जलकर मरनेके लिए तैयार हो गए। यह देखकर भगवान्ने अर्जुनसे कहा—मेरे साथ चलो, मैं ब्राह्मणके सभी पुत्रोंको तुम्हें दिखाता हूँ।

यह कहकर अर्जुन तथा श्रीकृष्ण रथपर सवार होकर सात पर्वतोंवाले सात द्वीपोंको पार कर गए। तदनन्तर जब लोकालोक पर्वतके आगे उनका रथ चला, तो इतना अँधेरा था कि भगवान्‌के रथके शैव्य, सुग्रीव, बलाहक एवं मेघपुष्प नामक घोड़े भी रास्ता भूलने लगे। तब भगवान्‌ने सुदर्शन चक्रको आगे चलकर रास्ता दिखानेके लिए कहा। आगे जाकर अर्जुन और श्रीकृष्णने उस भूमापुरुष (शेषनाग) की नगरी महाकालपुरीमें प्रवेश किया। यह श्रीभूमापुरुष कारण-समुद्रशायी हैं, जो परव्योमाधिपति श्रीनारायणका ही स्वरूप है।

अतः स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण भूमापुरुष या नारायणके तथा समस्त भगवत्-स्वरूपोंके मनको हरण करते हैं, उसीका प्रमाण यह श्लोक है। और भी—॥१४५॥

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे,
तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽचरत्तपो,
विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥१४६॥

(श्रीमद्भा. १०/१६/३५)

नागपत्नियाँ कहने लगीं—भगवन्! हम नहीं समझ पातीं कि यह कालिय नागकी किस साधनाका फल है, जो यह आपके चरणकमलोंकी धूलका स्पर्श पानेका अधिकारी हुआ है। आपके चरणोंकी रज इतनी दुर्लभ है कि उसके लिए आपकी अर्द्धाङ्गिनी लक्ष्मीजीको भी बहुत दिनों तक समस्त भोगोंका त्याग करके कठोर नियमोंका पालन करते हुए तपस्या करनी पड़ी थी।

तात्पर्य यह है कि लक्ष्मीजीने श्रीकृष्ण-माधुर्यसे आकृष्ट होकर अपने पति श्रीनारायणके सङ्गम भोग-विलासका परित्याग करके श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए सुकठोर तपस्या की थी, तो भी उनके श्रीचरणोंके स्पर्शका अधिकार प्राप्त नहीं हुआ, केवल एक सूक्ष्म गौर या सुवर्ण रेखाके रूपमें इनके वक्षस्थलपर निवासके आभासका वर उन्हें प्राप्त हुआ। किन्तु कालिय नागका ऐसा क्या पुण्य था, जिसके ऊपर श्रीकृष्णने अपनी अहैतुकी कृपाकर उसके फणोंपर नृत्य किया

और वह (लक्ष्मीजी) कठोर व्रत धारणकर आज तक तपस्या कर रही हैं। श्रीकृष्णने लक्ष्मीसे जब तपस्याका कारण पूछा तब लक्ष्मीजीने कहा—मैं गोपीरूपसे श्रीवृन्दावनमें आपके साथ विहार करना चाहती हूँ। भगवान् श्रीकृष्णने कहा—लक्ष्मी! यह तुम्हारे लिए दुर्लभ है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीनारायणकी पत्नी लक्ष्मीदेवीका भी मन हरण करनेवाला सौन्दर्य-माधुर्य श्रीकृष्णमें है ॥१४६॥

आपन-माधुर्य हरे आपनार मन।

आपना आपनि चाहे करिते आलिङ्गन ॥१४७॥

श्रीश्यामसुन्दरका ऐसा अनुपम माधुर्य है कि उनके स्वयंके मनका हरण हो जाता है, वे विमुग्ध हो जाते हैं और स्वयं ही स्वयंका आलिङ्गन करना चाहते हैं ॥१४७॥

अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी

स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः।

अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः

सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ॥१४८॥

(ललित-माधव ८/३२)

मणि-रचित स्तम्भमें प्रतिबिम्बित अपने माधुर्यको देखकर श्रीकृष्ण कहते हैं—अहा! कैसा अपूर्व अविचारित प्रगाढ़ माधुर्य चमत्कारकारी मेरा यह श्रेष्ठ अनिर्वचनीय माधुर्य-सौन्दर्य है, जिसे देखकर मैं लुब्धचित्त हो रहा हूँ और राधिकाके समान ही उत्कण्ठापूर्वक इसका उपभोग करनेकी मेरी इच्छा हो रही है। इसे आलिङ्गन करनेकी उत्कण्ठा हो रही है ॥१४८॥

एइ त' संक्षेपे कहिल कृष्णेर स्वरूप।

एवे संक्षेपे कहि राधा-तत्त्वरूप ॥१४९॥

कृष्णेर अनन्त-शक्ति, ताते तिन-प्रधान।

‘चिच्छक्ति’, ‘मायाशक्ति’, ‘जीवशक्ति’-नाम ॥१५०॥

‘अन्तरङ्गा’, ‘बहिरङ्गा’, ‘तटस्था’ कहि यारे।

अन्तरङ्गा ‘स्वरूप-शक्ति’-सबार उपरे ॥१५१॥

राय रामानन्द बोले—इस प्रकार संक्षेपमें मैंने श्रीकृष्णके स्वरूप-तत्त्वका वर्णन किया। अब श्रीराधातत्त्वका स्वरूप संक्षेपमें सुनिए। श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें तीन शक्तियाँ प्रधान हैं—चित्-शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति। इन्हें क्रमशः अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्थाशक्ति भी कहते हैं। इन सभी शक्तियोंमें स्वरूपशक्ति अर्थात् अन्तरङ्गाशक्ति प्रधान है।

उन परब्रह्म परमात्माकी कोई भी क्रिया प्राकृत नहीं होती, क्योंकि उनका कोई भी करण—हस्तपादादि प्राकृत नहीं होता। प्राकृत करणके बिना ही उनकी अप्राकृत लीलाका कार्य होता है। वे अप्राकृत शरीरसे एक ही समय सब जगह विराजमान रहते हैं। चित्-शक्तिके सम्बन्धमें उपनिषद्में उल्लिखित है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

यः कारणानि निखिलानि तानि

कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

(श्वे. उप. १/१३)

अर्थात् ब्रह्मवादी तत्त्वज्ञ ऋषियोंने समाधि योगमें स्थित होकर परब्रह्मके गुणोंसे विभावित होकर अपने गुणोंके द्वारा उन भगवान्की अत्यन्त रहस्यपूर्ण दिव्य और स्वकीय (स्वरूपभूत) शक्तियोंका साक्षात्कार किया, जो निखिल कारणसमूहके एवं जीव, प्रकृति, काल और कर्मके एकमात्र अधिष्ठाता या नियामक हैं।

मायाशक्तिके सम्बन्धमें वर्णित है—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि

भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्

तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥

(श्वे. उप. ४/९)

अर्थात् जो सब वेदोंके उपदेश हैं, घृत आदि द्वारा होनेवाले याग, यज्ञ, ऋतु अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि विशेष यज्ञ हैं, नाना प्रकारके व्रत तथा और भी जो कुछ भूत, भविष्य और वर्तमान पदार्थ अर्थात् सम्पूर्ण विश्व है, जिनका वेदोंमें वर्णन पाया जाता है, इन सबको मायाप्रकृतिके अधीश्वर परमात्माने रचा है। इस प्रकार रचे हुए इस जगतमें अज जीवसमुदाय उनकी (परमात्माकी) माया द्वारा बँधा हुआ है।

और भी मायाशक्तिके सम्बन्धमें उपनिषद् कहती है—

अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां
वह्नीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

(श्वे. उप. ४/५)

अर्थात् लाल, सफेद और काले रङ्गकी अर्थात् रज, सत्त्व और तम—इन तीनों गुणोंसे युक्त, बहुतसे भूतसमुदायको प्रकाशित करनेवाली ‘स्वरूपा’ अर्थात् भगवान्‌के समान एक अजाका (अजन्मा, अनादि प्रकृतिका) एक श्रेणीके अज भजन करते हैं, परन्तु दूसरे प्रकारके अज (ज्ञानी) पुरुष उस भोगी हुई प्रकृतिका सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देते हैं।

इस प्रकार अपनी अचिन्त्य पराशक्तिसे अभिन्न होते हुए भी भगवान् स्वतन्त्र इच्छामय हैं, वे परमपुरुष स्वमहिमस्वरूपसे नित्य स्थित होते हैं। परमतत्त्व सर्वदा स्वप्रकाश तत्त्व है। उस स्वप्रकाश तत्त्वकी तीन प्रकारकी शक्तियोंका वर्णन इस वेदमन्त्रमें भी पाया जाता है—

स विश्वकृद् विश्वविदात्म-योनिः
कालकारो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधान-क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसार-मोक्ष-स्थिति-बन्धहेतुः ॥

प्रस्तुत मन्त्रमें पराशक्तिके तीन भेद बताए हैं। 'प्रधान' शब्दसे मायाशक्तिको, 'क्षेत्रज्ञ' शब्दसे जीवशक्तिको और 'क्षेत्रपति' शब्दसे चित्-शक्तिको लक्ष्य किया गया है। 'शक्तिशक्तिमतोरभेदः' न्यायसे शक्ति और शक्तिमान पुरुषको परस्पर अभिन्न माना गया है। जड़जगत मायाशक्तिका कार्य है। जीवसमूह जीवशक्तिका कार्य है और चित्-जगत चित्-शक्तिका कार्य है। भगवान् स्वयं इन कार्योसे निर्लिप्त एवं निर्विकार रहते हैं। मायाशक्ति चित्-शक्तिकी छाया है। जैसे एक बड़े काँचके दर्पणमें पड़ी मनुष्यकी छाया और उसकी कायामें स्थूल दृष्टिसे साम्य होनेपर भी सूक्ष्म दृष्टिसे दोनों परस्पर विपरीत हैं, एक काया है—दूसरी उसीकी छाया है। उसी प्रकार चित्-जगतकी विचित्रता और मायिक जगतकी विचित्रता स्थूलतः एक समान दिखलायी पड़नेपर भी सूक्ष्म दृष्टिसे दोनों परस्पर विपरीत हैं।

श्रीमती राधिकाजीको स्वरूपशक्ति कहा जाता है। जैसे कस्तूरी और उसकी गन्ध परस्पर अविच्छिन्न है, जैसे अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति परस्पर अपृथक् है, उसी प्रकार श्रीमती राधिका और श्रीकृष्ण भी लीलारस आस्वादनके स्थलमें नित्य पृथक् होते हुए भी सर्वदा अपृथक् हैं। उन स्वरूपशक्तिकी तीन प्रकारकी क्रिया शक्तियाँ हैं—चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति। चित्-शक्तिका दूसरा नाम अन्तरङ्गाशक्ति, जीवशक्तिका दूसरा नाम तटस्थाशक्ति और मायाशक्तिका दूसरा नाम बहिरङ्गाशक्ति है। श्रीकृष्ण अनन्त कोटि भगवत्-अवतारोंके, उनके धामोंके तथा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके मूल आश्रय हैं। अशेष रसामृतसिन्धु, आत्मपर्यन्त सर्वचित्ताकर्षक, साक्षात् मन्मथ-मदन होते हुए भी श्रीराधाजीके प्रेमके वशीभूत हैं ॥१४९-१५१॥

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।

अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥१५२॥

(विष्णुपुराण ६/७/६१)

श्रीविष्णुकी तीन शक्तियाँ कही गई हैं। परा, क्षेत्रज्ञा और अविद्याशक्ति। विष्णुकी पराशक्ति—स्वरूपशक्ति या चित्-शक्ति है, क्षेत्रज्ञाशक्तिका नाम जीवशक्ति या तटस्थाशक्ति है और अविद्याशक्तिका नाम मायाशक्ति है ॥१५२॥

सच्चिदानन्दमय कृष्णेर स्वरूप।

अतएव स्वरूपशक्ति ह्येति त्रिरूप ॥१५३॥

आनन्दांशे 'ह्लादिनी', सदंशे 'सन्धिनी'।

चिदंशे 'सम्बित्' जगते ज्ञान करि' मानि ॥१५४॥

श्रीकृष्णका स्वरूप सत्, चित् एवं आनन्दमय है, अतएव उनकी स्वरूपशक्तिके भी तीन रूप हैं। उनके सत् अंशसे सन्धिनी, चित् अंशसे सम्बित् तथा आनन्द अंशसे ह्लादिनी प्रकाशित होती है। चिदंशरूप स्वरूपशक्तिको ज्ञान माना गया है ॥१५३-१५४॥

ह्लादिनी सन्धिनी सम्बित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।

ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥१५५॥

(विष्णुपुराण १/१२/६९)

हे भगवन्! आप सभीके आश्रय स्वरूप हैं। आपकी ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्बित्—ये चिन्मय शक्तियाँ आपमें सदैव अधिष्ठित रहती हैं और जीवमें रहनेवाली ह्लादकारी, तापकारी और मिश्रा जड़िय शक्ति आपपर अधिकार नहीं कर सकती।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्बित् शक्तियाँ श्रीकृष्णमें ही रह सकती हैं, जीवोंमें कदापि नहीं। भगवान् मायातीत हैं, सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंसे अतीत हैं। अतः मनको प्रसन्नता देनेवाली ह्लादकारी रूप सात्त्विकी शक्ति और प्रसन्नता एवं तापसे मिश्रित राजसी शक्ति श्रीकृष्णका स्पर्श भी नहीं कर सकती। जीव मायाके वशीभूत है। चित्-कण जीव मायाके तीन गुणोंका आश्रय पाकर जो अवस्था प्राप्त करता है, उसमें शक्तिके ह्लादकारी आदि तीन भेद पाए जाते हैं। किन्तु सर्वगुणातीत भगवान्की स्वरूपशक्ति परम निर्मल और निर्गुण स्वरूपमें उनसे एकाकार होकर स्थित है। भगवान् श्रीकृष्ण सात्त्विकी आदि शक्तियोंके भी अधिष्ठाता हैं। ये शक्तियाँ भी ह्लादिनी आदि शक्तियोंकी तरह उन्हींके आश्रित रहती हैं, परन्तु भेद इतना है कि ह्लादिनी आदि श्रीभगवान्की स्वरूपशक्ति हैं, वे उनके स्वरूपसे अभिन्न हैं और सात्त्विकी आदि

उनकी बहिरङ्गाशक्ति मायाकी वृत्तियाँ हैं, उनकी स्वरूपशक्ति नहीं है। त्रिगुणमयी शक्तिके अधिष्ठाता होते हुए भी वे सदैव उनसे अस्पृष्ट रहते हैं ॥१५५॥

कृष्णके आह्लादे, ताते नाम—‘ह्लादिनी’।

सेइ शक्ति-द्वारे सुख आस्वादे आपनि ॥१५६॥

सुखरूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।

भक्तगणे सुख दिते ‘ह्लादिनी’—कारण ॥१५७॥

भगवान् श्रीकृष्णको जो शक्ति आनन्द प्रदान करती है, उसका नाम ह्लादिनी है—इसी शक्तिसे निखिल सुखरूप श्रीकृष्ण स्वयं सुखका आस्वादन करते हैं और वे भक्तोंको भी सुख प्रदान करते हैं।

स्वरूपशक्तिके जो सब नित्य लक्षण हैं, चित्-शक्तिमें पूर्ण रूपसे, जीवशक्तिमें अणुरूपमें तथा मायाशक्तिमें विकृत रूपसे प्रकाशित हैं। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्बित्—ये स्वरूपशक्तिकी तीन प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। दशमूलमें कहा गया है—

स वै ह्लादिन्यायाः प्रणय विकृतेह्लादिनरत

स्तथा सम्बिच्छक्ति प्रकटित-रहोभाव-रसितः।

तया श्रीसन्धिन्या कृत-विशद तद्धाम निचये

रसाम्भोधौ मग्नो ब्रज-रस-विलासी विजयते॥

(चतुर्थ दशमूल)

तीन प्रकारकी वृत्तियोंमें ह्लादिनीके प्रणय विकारमें श्रीकृष्ण सदा अनुरक्त रहते हैं। सम्बित्शक्ति द्वारा प्रकटित अन्तरङ्ग भावोंके द्वारा वे सर्वदा रसिक स्वभाव हैं। सन्धिनीशक्ति द्वारा प्रकटित निर्मल वृन्दावन धाममें स्वेच्छामय वे ब्रजरस विलासी श्रीकृष्ण नित्य रससमुद्रमें निमग्न रहते हैं।

निष्कर्षतः स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्बित्—इन तीनों वृत्तियोंका प्रभाव चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिके प्रत्येक कार्योंमें ओतप्रोत रहता है। स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनीवृत्ति

वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाके रूपमें श्रीकृष्णको सम्पूर्ण चिन्मय आनन्द प्रदान करती है। वे महाभाव स्वरूपा श्रीमती राधिका स्वयं श्रीकृष्णको सब प्रकारसे आनन्द तो प्रदान करती ही है, अपने कायव्यूहस्वरूप आठ प्रकारके भावोंको अष्टसखी और चार प्रकारके सेवा भावोंको प्रियसखी, प्राणसखी, नर्मसखी और परमप्रेष्ठसखी—इन चार श्रेणीकी सखियोंके रूपमें नित्य प्रकटित रखती हैं। ये समस्त सखियाँ चित्-जगत रूप ब्रजकी नित्यसिद्ध सखियाँ हैं। स्वरूपशक्तिकी सम्बित्त्वृत्ति ब्रजके समस्त प्रकारके सम्बन्ध—भावोंको प्रकाश करती हैं। सन्धिनी ब्रजके पृथ्वी और जल आदिसे युक्त, ग्राम, वन, उपवन, गिरि गोवर्द्धन आदि विलासपीठ तथा श्रीराधिका, श्रीकृष्ण, सखी, सखा, गोधन और दास-दासियोंके चिन्मय कलेवर और विलासके समस्त प्रकारके चिन्मय उपकरणोंको प्रकाशित करती हैं। श्रीकृष्ण ह्लादिनीके प्रणय-विकाररूप परमानन्दमें सर्वदा विभोर रहते हैं तथा सम्बित्त्वृत्ति द्वारा प्रकटित भिन्न-भिन्न भावोंसे युक्त होकर प्रणय रसका आस्वादन करते हैं। वंशी बजाकर गोपियोंका आकर्षण, गोचारण और रास आदि लीला, ये सब क्रियाएँ श्रीकृष्ण अपनी पराशक्तिकी सम्बित्त्वृत्ति द्वारा सम्पादित करते हैं। सन्धिनी द्वारा प्रकटित धाममें ब्रजविलासी श्रीकृष्ण सदा निमग्न रहते हैं।

जीवशक्ति स्वरूपशक्तिकी अणुशक्ति है, इस शक्तिमें स्वरूप-शक्तिकी तीनों वृत्तियाँ अणु-अणु मात्रामें विद्यमान हैं। जीवमें ह्लादिनीवृत्ति ब्रह्मानन्दके रूपमें, सम्बित्त्वृत्ति—ब्रह्मज्ञानके रूपमें तथा सन्धिनीवृत्ति अणुचैतन्यके रूपमें नित्य विराजमान है। मायाशक्तिमें ह्लादिनीवृत्ति जड़ानन्दके रूपमें, सम्बित्त्वृत्ति भौतिक ज्ञानके रूपमें तथा सन्धिनीशक्ति चौदह लोकोंके सम्पूर्ण जड़ ब्रह्माण्ड तथा जीवोंके जड़ शरीरके रूपमें प्रकाशित है।

भगवान्की पराशक्तिके छाया रूप विकारका नाम ही 'मायाशक्ति' है। वह पृथक् रूपमें कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। माया ही जीवोंके बन्धन एवं मोक्षका कारण है। श्रीकृष्णसे विमुख होनेपर वही माया जीवको संसार-बन्धनमें डालकर दण्ड देती है और श्रीकृष्णके प्रति वही माया सत्त्वगुणका प्रकाशकर जीवको कृष्णज्ञान प्रदानकर उसे

संसारसे मुक्तकर कृष्णप्रेमका अधिकारी बनाती है। इसलिए मायिक गुणोंसे बँधे हुए जीव मायाका शुद्ध स्वरूप अर्थात् भगवान्‌की स्वरूपशक्तिको अनुभव करनेमें असमर्थ होकर छायाशक्ति (मायाको) ही आद्याशक्ति मानते हैं ॥१५६-१५७॥

ह्लादिनी सार अंश, तार 'प्रेम' नाम।

आनन्दचिन्मयरूप रसेर आख्यान ॥१५८॥

प्रेमेर परम-सार 'महाभाव' जानि।

सेइ महाभावरूपा राधा-ठाकुरानी ॥१५९॥

ह्लादिनीके सार अंशका नाम प्रेम है। प्रेमका दूसरा नाम आनन्दचिन्मयरस है, प्रेमसे ही इस रसका आस्वादन हो सकता है। प्रेमका परम सार महाभाव है, उसी महाभावकी घनीभूत मूर्ति हैं—ठाकुरानी श्रीराधाजी ॥१५८-१५९॥

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।

महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी ॥१६०॥

(उज्ज्वलनीलमणी-राधाचन्द्रावल्याः श्रेष्ठताकथने २/२)

उन दोनों (राधिका एवं चन्द्रावली) में श्रीराधिकाजी सभी प्रकारसे श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे महाभाव स्वरूपिणी हैं। गुणोंमें वे समस्त ब्रजविलासिनियोंमें वरीयसी हैं।

तापनी श्रुतियोंमें श्रीराधाको गान्धर्वा कहा गया है। राधातत्त्व अपूर्व चमत्कार तत्त्व है ॥१६०॥

प्रेमेर 'स्वरूप-देह'—प्रेमेर भावित।

'कृष्णे प्रेयसी-श्रेष्ठ' जगते विदित ॥१६१॥

सारा जगत इस तत्त्वसे सुपरिचित है कि श्रीराधाजीका स्वरूप प्रेममय है और उनकी देह प्रेमसे ही गठित है। श्रीकृष्णकी समस्त प्रेयसियोंमें वे श्रेष्ठतमा हैं ॥१६१॥

आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभाविताभि-

स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥१६२॥

(ब्रह्मसंहिता ५/३७)

आनन्द चिन्मयरसके द्वारा प्रतिभाविता, अपने चित्-रूपके अनुरूपा, चिन्मयरसस्वरूपा, चौंसठ कलाओंसे युक्ता, ह्लादिनीशक्तिस्वरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहस्वरूपा सखियोंके साथ जो अखिलात्मभूत गोविन्द अपने गोलोकधाममें निवास करते हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ।

श्रील जीवगोस्वामीपाद कहते हैं गोपियोंका लोक ही गोलोकधाम है—इन्हीं गोपियोंके निवास-स्थानपर ही श्रीकृष्णका वास है। निजरूपतयाकलाभिः अर्थात् ह्लादिनीशक्तिकी वृत्तिरूपा प्रेयसियाँ श्रीकृष्ण-स्वरूपसे अभिन्न उन्हींकी कलाएँ हैं—ये उन्नतोज्ज्वल रसकी प्रतिमूर्तियाँ हैं, सम्पूर्ण चिन्मय आनन्दके द्वारा प्रतिभावित होनेके कारण ये श्रीकृष्णकी सर्वाधिक प्रिया हैं। रसराज श्रीकृष्णके प्रेमरसने जिन सबको विभोर किया, उसी प्रीति द्वारा अभिषिक्त हृदयोंसे ही उन सब गोपियोंने श्रीकृष्णसे प्रीति की—‘प्रतिभावित’ शब्दका यही अर्थ व्यञ्जित होता है। उन्हें अद्भुत एवं विचक्षण प्रीति प्रदानकर गोपियोंने श्रीकृष्णपर बड़ा उपकार किया है। ह्लादिनीशक्तिकी वृत्तियाँ सभी एक-एक कलाके रूपमें प्रकटित हैं। चौंसठ कलाएँ ये हैं—नृत्य, गीत, वाद्य, नाट्य, आलेख्य, विशेषकच्छेद्य, तण्डुल-कुसुम-वालि-विकार, पुष्पास्तरण, दशन-वसनाङ्गराग, मणि-भूमिका-कर्म, शय्या-रचन, उदकवाद्य या उदकघात, चित्रयोग, माल्य-ग्रन्थन-विकल्प, शेखरापीड़-योजन, नेपथ्य योग, कर्णपत्र भङ्ग, गन्धयुक्ति, भूषण-योजन, ऐन्द्रजाल, कौचुमारयोग, हस्त-लाघव, चित्र-शाकापूपभक्ष्यविकार-क्रिया, पानक—रसरागासव-योजन, सूचवाय-कर्म, सूत्रक्रीड़ा, वीणाडमरूक-वाद्यादि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वचक-योग, पुस्तक-वाचन, नाटक-आख्यायिका-दर्शन, काव्य-समस्या-पूरण, पट्टिका वेत्रवाण-विकल्प, तर्ककर्म, तक्षण, वास्तुविद्या, रूप्यरत्न परीक्षा, धातुवाद, मणिराग-ज्ञान, आकर-ज्ञान, वृक्षायुर्वेद-योग, मेष-कुक्कुट-शावक-युद्ध-विधि, शुक-सारिका-प्रलापन,

उत्सादन, केश-मार्जन कौशल, अक्षर-मुष्टिका-कथन, म्लेच्छितकृतर्क-विकल्प, देश-भाषा-ज्ञान, पुष्प शकटिका-निर्मिति-ज्ञान, यन्त्रमातृ-काधारणमातृका, सम्पाट्य, मानसी-काव्य-क्रिया, क्रिया-विकल्प, छलितकयोग, कोष छन्दोज्ञान, वस्त्र-गोपन, द्यूत, आकर्षण क्रीड़ा, बाल-क्रीड़नक, वैनायिकी विद्या-ज्ञान, वैजयिकी विद्या और वैतालिकी विद्या-ज्ञान। ये सम्पूर्ण कलाएँ अर्थात् विद्याएँ मूर्तिमती होकर गोलोकधाममें नित्य प्रकटित हैं। गोलोकवीर श्रीगोविन्द उपपतिका अभिमान अङ्गीकारकर वंशीरूप प्रियसखीकी सहायतासे रासादि लीलाओंको सम्पन्न करते हैं और उधर गोपियोंमें अनादि कालसे परोढ़ाका अभिमान रहता है। इस परोढ़ात्वका श्रीकृष्ण किसी रूपसे गोलोकमें और किसी आकारसे गोकुलमें आस्वादन करते हैं ॥१६२॥

सेई महाभाव हय 'चिन्तामणि-सार'।

कृष्ण-वाञ्छा पूर्ण करे एइ कार्य तार ॥१६३॥

'महाभाव-चिन्तामणि' राधार स्वरूप।

ललितादि सखी-तार कायव्यूहरूप ॥१६४॥

राधा-प्रति कृष्ण-स्नेह-सुगन्धि उद्वर्तन।

ताते सुगन्धि देह-उज्ज्वल-वरण ॥१६५॥

कारुण्यामृत-धाराय स्नान प्रथम।

तारुण्यामृत-धाराय स्नान मध्यम ॥१६६॥

लावण्यामृत-धाराय तदुपरि स्नान।

निज-लज्जा-श्याम-पट्टसाटी-परिधान ॥१६७॥

कृष्ण-अनुराग-द्वितीय अरुण-वसन।

प्रणय-मान-कञ्चुलिकाय वक्ष आच्छादन ॥१६८॥

सौन्दर्य-कुङ्कुम, सखी-प्रणय-चन्दन।

स्मितकान्ति-कर्पूर, तिने-अङ्गे विलेपन ॥१६९॥

कृष्णोर उज्ज्वल रस-मृगमद-भर।

सेई मृगमदे विचित्रि कलेवर ॥१७०॥

प्रच्छन्न-मान-वाम्य-धम्मिल-विन्यास ।
 'धीराधीरात्मक' गुण-अङ्गे पट्टवास ॥१७१॥
 राग-ताम्बूलरागे अधर उज्ज्वल ।
 प्रेमकौटिल्य-नेत्रयुगले कज्ज्वल ॥१७२॥
 'सुद्वीप्त-सात्त्विक' भाव, हर्षादि 'संचारी' ।
 एई सब भाव-भूषण सब अङ्गे भरि ॥१७३॥
 'किलकिञ्चितादि'-भाव-विंशति-भूषित ।
 गुणश्रेणी-पुष्पमाला सर्वाङ्गे पूरित ॥१७४॥
 सौभाग्य-तिलक चारु-ललाटे उज्ज्वल ।
 प्रेम-वैचित्त्य-रत्न, हृदय-तरल ॥१७५॥
 मध्य-वयस, सखी-स्कन्धे कर-न्यास ।
 कृष्णलीला-मनोवृत्ति-सखी आशपाश ॥१७६॥
 निजाङ्ग-सौरभालये गर्व-पर्यङ्क ।
 ताते वसि' आछे, सदा चिन्ते कृष्णसङ्ग ॥१७७॥
 कृष्ण-नाम-गुण-यश-अवन्तस काणे ।
 कृष्ण-नाम-गुण-यश-प्रवाह-वचने ॥१७८॥
 कृष्णके कराय श्यामरस-मधु पान ।
 निरन्तर पूर्ण करे कृष्णोर सर्वकाम ॥१७९॥
 कृष्णोर विशुद्धप्रेम-रत्नेर आकर ।
 अनुपम-गुणगण-पूर्ण कलेवर ॥१८०॥

यही महाभाव चिन्तामणिका सार है—श्रीकृष्णकी वाञ्छाओंको पूर्ण करना ही इसका कार्य है। श्रीललिता आदि सखियाँ राधाजीकी कायव्यूहा हैं। श्रीराधाजीके प्रति श्रीकृष्णका स्नेह ही राधाजीका उबटन है, इस उबटनसे राधाजीकी देह सुगन्धित एवं उज्ज्वलवर्णकी हो जाती है। राधाजी प्रथम स्नान करुणाकी अमृतमयी धाराओंमें करती हैं, मध्याह्नकालीन द्वितीय स्नान वे अभिनव तारुण्य-अमृत-तरङ्गिणीमें करती हैं और अपना अन्तिम तृतीय स्नान वे लावण्यके अमृतोदधिमें

करती हैं। वे अपनी लज्जारूप श्याम वर्णीय रेशमी साड़ी धारण करती हैं। श्रीकृष्णके प्रति अपने अनुरागरूप लाल रङ्गके उत्तरीय वस्त्रको धारण करती हैं; प्रणय एवं मान नामकी कञ्चुकीसे वे अपने श्रीवक्षस्थलको आच्छादित करती हैं। उनके शरीरका कुङ्कुम ही उनका सौन्दर्य है, सखियोंका प्रणय चन्दन है और कान्तिमय कर्पूर ही उनकी कोमल स्मित हास्य है—इस प्रकार कुङ्कुम-चन्दन एवं कर्पूर—इन तीनोंसे वे अपने श्रीअङ्गोंका लेपन करती हैं। श्रीकृष्णके शृङ्गाररसरूप मृगमदसे वे अपने चिन्मय अङ्गोंको पत्रावलीसे विशिष्ट रूपसे चित्रित करती हैं। प्रच्छन्न मान एवं वाम्यताको श्रीराधाजी सुन्दर केशपाशके रूपमें ग्रथित करती हैं। धीराधीरात्मक गुणोंको अपने अङ्गोंमें वे पटवासके रूपमें धारण करती हैं। राग ही ताम्बूलकी लालिमा है, जो अधरोंको उज्ज्वल बनाती है। प्रेम-कौटिल्यको वे अपनी आँखोंमें काजलके रूपमें धारण करती हैं। सुदीप्त, सात्त्विक, हर्ष, सञ्चारी आदि भावरूपी आभूषणोंसे वे अपने श्रीअङ्गोंको सुसज्जित करती हैं। किलकिञ्चित् आदि बीस प्रकारके भावरूपी आभरणोंसे वे विभूषित हैं और माधुर्यादि गुणश्रेणीकी पुष्पमालाको उन्होंने सर्वाङ्गमें धारण कर रखा है। ललाटपर अति सुन्दर सौभाग्य तिलक दमक रहा है और प्रेमवैचित्त्य आदि रत्न उनके हृदय-हारकी मध्य मणि बनकर स्निग्ध रूपसे शोभायमान हो रहे हैं। मध्य-वयस अर्थात् नित्य कैशोर वयसरूप सखीके स्कन्धपर उन्होंने अपने हाथोंको अर्पण कर रखा है। श्रीकृष्णलीला सम्बन्धी जो समस्त मनोवृत्तियाँ हैं, वे सखियोंके रूपमें सर्वदा राधाजीके आसपास ही विद्यमान रहती हैं। अपने अङ्ग-सौरभरूप भवनमें गर्वरूप पालङ्क (पलङ्ग) पर आसीन हो, वे सदा श्रीकृष्ण-अङ्ग-सङ्गका चिन्तन करती हैं। कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णयशरूप अलङ्कार ही उनके कर्णभूषण हैं और उनके वचनोंमें कृष्णनाम, गुणयशका ही प्रवाह निरन्तर रूपसे प्रवाहित होता रहता है। श्रीकृष्णको उज्ज्वल (शृङ्गार) रसका पान कराकर अनवरत श्रीकृष्णकी समस्त कामनाओंको पूर्ण रूपसे सम्पन्न किया करती हैं। श्रीकृष्ण विषयक विशुद्धप्रेम ही रत्नोंका आकर है। इनसब अनुपम गुणोंसे श्रीराधाजीका कलेवर सदैव सुसज्जित रहता है।

श्रीराधाजी—महाभावरूप चिन्तामणिस्वरूपा हैं। यथा एक चिन्तामणि याचककी सारी चिन्ताओं अर्थात् कामनाओंको पूर्ण कर देती हैं, उसी प्रकार राधाजी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक, रसिकशिरोमणि ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सकल कामनाओंको पूर्ण करती हैं। यदि श्रीकृष्ण यह चाहें कि राधिकाके विपक्षके रसका आस्वादन किया जाए, तो राधाजी ही चन्द्रावलीके रूपमें प्रकट होकर अपने प्रियतमकी यह इच्छा भी पूर्ण कर देती हैं। ब्रजमें जितनी भी गोपियाँ हैं, सभी राधाजीके एक-एक भावका मूर्तिमानविग्रह हैं, श्रीकृष्ण जिस अवसरपर जैसी वाञ्छा करते हैं, वे उस अवसरपर तत्परतासे स्वयंको उपस्थित करती हैं। द्वारकामें जितनी भी महिषियाँ हैं, समस्त अवतारोंकी जो लक्ष्मियाँ हैं, वे सभी राधाजीका वैभवविलास हैं, कोई अंश है, कोई कलारूप हैं। सभी रूप राधाजीने ही धारण किए हुए हैं, अतः उन्हें कायव्यूहरूपा कहा जाता है—उनके समस्त रूप श्रीकृष्णके मनोभिलाषको पूर्ण करनेमें सचेत एवं उत्सुक रहते हैं। श्रीकृष्णाभिलाषकी पूर्णता केवल एक चिन्तामणिस्वरूपा राधासे ही सम्भव है।

कायव्यूहसे तात्पर्य है—एक ही समय बहुतसे कार्योंके समाधानके उद्देश्यसे अनेक रूपको प्रकाशित करना। कायव्यूहके आकारादि सभी मूल देह जैसे होते हैं।

श्रीराधाकी सखियाँ प्रेमलीलाका विस्तार करती हैं और इन लीलाओंको अधिक चमत्कारिणी बनाती हैं। श्रीराधाके प्रति जो श्रीकृष्णका स्नेह है, वह अति सुगन्धित है, जब राधाजी श्रीकृष्णके उस स्नेहका स्मरण करती हैं, तब उनके समस्त अङ्ग सुवासित होने लगते हैं एवं श्रीअङ्ग झलमल-झलमल करने लगते हैं। कारुण्यामृत, तारुण्यामृत एवं लावण्यामृतके संगमकी स्रोत हैं राधाजी।

“परदुःखासहो यस्तु करुणः स निगद्यते” (भ. र. सि. २/१/६४) अर्थात् जो दूसरोंके दुःखको सहन न कर पाए, वह करुण कहा जाता है। करुण विशेषणकी भाववाचक संज्ञा है ‘कारुण्य’। कारुण्यामृत भी प्रेमके स्रोतकी एक तरङ्ग है, जिसमें राधाजी प्रथम स्नान करती हैं। प्रातःकाल नदीमें स्नान करनेका मङ्गल विधान है। अतः राधाजी प्रातःकाल कारुण्यामृत-तरङ्गिणीमें स्नान करती हैं। नदी-स्नानसे

शरीरमें सुचिक्कणता, तरलता एवं स्निग्धता आती है। इस कालमें राधाजी वयससन्धिमें हैं और इस अवस्थामें बाल्य एवं पौगण्ड अवस्थाकी समस्त चपलताएँ दूर हो जाती हैं।

तारुण्यामृत—यौवन अर्थात् नवकिशोर रूप अमृतधारा मध्यस्नान अर्थात् मध्याह्नमें स्नान है। राधाजी प्रातःकाल स्नानके उपरान्त नन्दभवनमें प्रियतम श्रीकृष्णकी भोजन-व्यवस्थाके उपरान्त मध्याह्नमें स्नान हेतु श्रीराधाकुण्डमें पधारती हैं। श्रीश्यामसुन्दर भी अपने सखाओंसे कोई बहाना बनाकर राधाकुण्डमें समुपस्थित होते हैं। जैसे ही राधाजी श्रीश्यामसुन्दरका अवलोकन करती हैं, तो उनके अङ्गोंमें नवकिशोरवयसके लक्षण स्वतः ही उदित हो जाते हैं। पुनः नौकाविहार, जलविहार, जलकेलि इत्यादि लीलाओंमें निष्णात होकर वे राधाकुण्डमें भावमय स्नान करती हैं। तरुणाईकी तरङ्गोंमें अभिषिक्त होनेके कारण मध्याह्न तारुण्यामृतमें श्रीराधाजी स्वाभाविक रूपसे दीप्तमान हो उठती हैं।

मुक्ताफलेषु छायाया स्तरलत्वमिवान्तरा।

प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥

(उज्ज्वलनीलमणि १०/२८)

जिस प्रकार मुक्तामें कान्ति हर कोणसे प्रस्फुटित होती है, उसी प्रकार राधाजीके हृदयगत भाव राधाजीके अङ्गोंसे प्रस्फुटित होते हैं। इन भावोंसे राधाजीका लावण्य और भी देदीप्यमान हो उठता है। निशीथमें जब राधाजी अभिसार करती हुई और श्रीकृष्णको अभिसार कराती हुई संकेत स्थलपर गमन करती हैं, उस समय उनका पूर्ण कैशोर यौवनरूप होता है, जो अति लावण्यमय होता है। रात्रिकालीन लावण्यामृतसे अपने प्रियतमको परम एवं चरम सुख प्रदान करनेके लिए मनोरथ पूर्ण लावण्यमयी अमृतधारामें वे तृतीय स्नान करती हैं।

इस प्रकार राधाजी करुणा, नवयौवन तथा लावण्यकी मूलाश्रया हैं। श्रीराधाजीकी कैशोरावस्था आनेपर उनके श्रीअङ्गोंमें गम्भीरता उभर आने लगती है, अतः स्वतः ही उन्हें लज्जा अनुभूत होने लगती है। लज्जा निवारण हेतु वे श्यामवर्ण अर्थात् शृङ्गाररसरूप

परिधेय पट अर्थात् साड़ी धारण करती हैं। परिधेय-वस्त्रकी भाँति मानो लज्जाने उनके समस्त अङ्गको आच्छादित कर रखा है।

श्रीकृष्णके प्रति उनका अनुराग द्वितीय अरुण-वसन है—

सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।

रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥

(उ. नी. १४/१४६)

अर्थात् जो राग स्वयं नित्यनवीन भावमें सदा अनुभूत प्रियको प्रतिक्षण नवीन कर देता है, उसे अनुराग कहते हैं। राधाजी सदैव इस अनुरागमें निमग्न रहना चाहती हैं, अतः लाल रङ्गकी ओढ़नीरूप अनुरागको वे अपने शीशपर धारण करती हैं।

स्नान, नासिकाके अग्रभागमें मणि (लोलक) की उज्ज्वलता, नील वसन धारण, कटि-प्रदेशमें नीवी बन्धन (काञ्ची), वेणी, कानोंमें उत्तंस (कर्णफूल), अङ्गोंमें कर्पूर-कस्तूरी-चन्दन-लेपन, केशमें पुष्प विन्यास, गलेमें माला, हाथमें लीलाकमल, मुखमें ताम्बूल, चिबुकमें कस्तूरी-बिन्दु, नेत्रोंमें काजल, गुलाबी कपोलोंपर मृगमद द्वारा रचित मकरीपत्र, चरणोंमें अलक्तक, ललाटपर तिलक—इन सौलह शृङ्गारोंसे सुसज्जित श्रीराधाजी सर्वदा सुशोभित रहती हैं।

चूड़ामें पिरोई हुई अपूर्व उज्ज्वल दिव्यमणि, कानोंमें स्वर्ण कुण्डल, कटि प्रदेशपर स्वर्ण निर्मित करधनी, कण्ठमें सोनेका हार, कानोंमें बालियाँ और स्वर्ण शलाकाएँ, हाथोंमें कङ्कण, कण्ठमें कण्ठभूषा, अंगुलियोंमें अंगूठियाँ, वक्षस्थलपर तारावली हार, भुजाओंमें बाजूबन्द, चरणोंमें रत्नमय नुपूर और पद-अंगुलियोंमें बिछिया—ये द्वादश आभरण श्रीराधाके अङ्गोंपर सुशोभित रहते हैं।

श्रीराधिका मधुरा अर्थात् देखनेमें अनुपम सुन्दरी, नववया अर्थात् किशोर वयसवाली, चलापाङ्गी अर्थात् चञ्चल कटाक्षवाली, उज्ज्वलस्मिता अर्थात् मृदुमधुर हास्यकारिणी, चारु सौभाग्य रेखाढ्या अर्थात् चरण-तलमें सौभाग्य सूचक मनोहर रेखाएँ, गन्धोन्मादित-माधवा अर्थात् अपने गन्धसे कृष्णको भी उन्मत्त करनेवाली, सङ्गीत प्रसराभिज्ञा अर्थात् कोकिल तुल्य उनका पञ्चम-स्वर, सङ्गीत-विद्यामें पारदर्शिनी,

रम्यवाक् अर्थात् मधुर वाणी बोलनेवाली, नर्मपण्डिता अर्थात् परिहास करनेमें पटु, विनीता, करुणापूर्णा अर्थात् दयालु, विदग्धा अर्थात् चतुरा, पाटवान्विता अर्थात् सब कार्योंमें चातुरीयुक्ता, लज्जाशीला, सुमर्यादा अर्थात् साधुमार्गपर अटल रहनेवाली (स्वाभाविकी, शिष्टाचार परम्परा तथा स्वकल्पिता—तीनों प्रकारकी मर्यादाओंमें अवस्थित) धैर्यशालिनी, गम्भीर, सुविलासा अर्थात् हर्षादि व्यञ्जक, मन्दहास्य, पुलक, विकृत-स्वर-तालादिमय, हाव-भावादि युक्ता, महाभाव-परमोत्कर्ष-तर्षिणी अर्थात् महाभावके परमोत्कर्षको प्रकट करनेमें परम व्यग्रा, गोकुल प्रेमवसति अर्थात् उनको देखते ही गोकुलवासियोंके हृदयमें प्रेम उमड़ पड़ता है, जगतश्रेणीलसद्-यशा अर्थात् उनका यश समस्त जगतमें व्याप्त हो रहा है, गुर्वर्पित गुरुस्नेहा—गुरुजनोंकी अतिशय स्नेहपात्री, सखीप्रणयितावशा—सखियोंके प्रेमके वशीभूत, कृष्णप्रियावलीमें मुख्या एवं सन्तताश्रवकेशवा अर्थात् केशव श्रीकृष्ण सर्वदा श्रीराधाजीकी आज्ञाके अधीन रहते हैं। ये सब गुण राधाजीमें सदा विद्यमान रहते हैं ॥१६३-१८०॥

का कृष्णस्य प्रणयजनिभूः श्रीमती राधिकैका

कास्य प्रेयस्यनुपमगुणा राधिकैका न चान्या।

जैहृद्यं केशे दृशि तरलता निष्ठुरत्वं कुचेऽस्या

वांछापूर्त्यै प्रभवति हरे राधिकैका न चान्या ॥१८१॥

(श्रीगोविन्दलीलामृत ११/११२)

श्रीकृष्णके प्रणयकी उत्पत्तिका स्थान क्या है? इस प्रश्नका उत्तर केवल एक श्रीराधा ही हैं। श्रीकृष्णकी प्रियतमा कौन हैं? इसका उत्तर केवल अनुपम गुणसम्पन्ना श्रीराधा ही हैं और कोई नहीं। इनके केश कुटिल अर्थात् घुँघराले हैं, आँखोंमें तरलता है और कुचोंमें कठोरता है। इसलिए श्रीराधा ही एकमात्र श्रीकृष्णकी अभिलाषा पूर्ण करनेमें समर्था हैं, अन्य कोई नहीं।

प्रश्न व अप्रश्नपूर्वक कथित वस्तुसे अपरका परित्याग परिसंख्या कहलाती है—यहाँ चार प्रकारकी परिसंख्या हैं। (१) प्रश्नपूर्वक आख्यान, (२) समान वस्तुका त्याग, (३) अप्रश्न व्यंग, एवं (४) प्रश्नपूर्वक व्यंग ॥१८१॥

याँर सौभाग्य-गुण वाञ्छे सत्यभामा।
 याँर ठाजि कलाविलास शिखे ब्रजरामा ॥१८२॥
 याँर सौन्दर्यादि-गुण वाञ्छे लक्ष्मी-पार्वती।
 याँर पतिव्रता-धर्म वाञ्छे अरुन्धती ॥१८३॥
 याँर सद्गुण-गणने कृष्ण ना पाय पार।
 ताँर गुण गणिवे केमने जीव छार ॥१८४॥
 प्रभु कहे,—“जानिलुँ कृष्ण-राधा-प्रेमतत्त्व।
 शुनिते चाहिये दुँहार विलास-महत्त्व ॥१८५॥
 राय कहे,—“कृष्ण हय ‘धीरललित’।
 निरन्तर कामक्रीड़ा-याँहार चरित ॥१८६॥

जिनके सौभाग्यगुणोंकी सत्यभामा आदि महिषियाँ नित्य अभिलाषा करती हैं, जिनसे समस्त ब्रजरमणियाँ कला-विलासकी शिक्षा लिया करती हैं, जिनके सौन्दर्य आदि गुणोंकी लक्ष्मीजी एवं पार्वतीजी वाञ्छा किया करती हैं, जिनके पातिव्रत्यधर्मकी सतीशिरोमणि अरुन्धतीजी भी कामना किया करती हैं, जिनके सद्गुणोंका गान करते-करते श्रीकृष्ण भी पार नहीं पाते, उन श्रीराधिकाजीके गुणोंकी गणना मायाबद्ध तुच्छ जीव किस प्रकार कर सकता है?

जब श्रीमान् राय रामानन्दजीने श्रीकृष्णतत्त्व, श्रीराधातत्त्व एवं प्रेमतत्त्वका वर्णन किया तो महाप्रभुजीने कहा—राय! मैंने कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व एवं प्रेमतत्त्वको तो समझ लिया है, अब मैं इन दोनोंके विलासकी महिमा श्रवण करना चाहता हूँ। श्रीराय रामानन्दजीने कहा—श्रीकृष्ण धीरललित नायक हैं और उनका चरित कामक्रीड़ा-परायण है।

रसिकता, नवयौवन, परिहास-पटुता और निश्चिन्तता आदि धीरललित नायकके गुण हैं। उसमें अविच्छेद विहार-लक्षणका संयोग होनेसे धीरललित अनुकूल नायक होता है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—॥१८२-१८६॥

विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः।

निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवशः ॥१८७॥

(भ. र. सि. २/१/२३०)

अर्थात् जो विदग्ध अर्थात् कला-विलासादिमें निपुण हो, नवयुवा हो, परिहासचतुर हो, जो निश्चिन्त हो एवं जिस प्रेयसीका जैसा प्रेम हो उस प्रेयसीके उसी प्रकार जो वशीभूत रहता हो, वह धीरललित नायक होता है। श्रीपौर्णमासी नान्दीमुखीसे कहती हैं—हे नान्दीमुखि! कृष्णके प्रति अपने अनिर्वचनीय अनुरागके कारण माता-पिता यशोदा-नन्दजीने पुत्र श्रीकृष्णके लिए कोई भी व्यवहारिक कार्यभार नहीं सौंप रखा है। इस प्रकार निश्चिन्त होकर श्रीकृष्ण निरन्तर श्रीराधाके साथ विहार करते हुए यमुनातटवर्ती कुञ्जोंको अलंकृत करते रहते हैं ॥१८७॥

रात्रि-दिन कुञ्जे क्रीड़ा करे राधा-सङ्गे।

कैशोर-वयस सफल कैल क्रीड़ा-रङ्गे ॥१८८॥

दिन-रात निरन्तर श्रीराधाजीके साथ कुञ्जमें विहार, हास, परिहास एवं विभिन्न प्रकारकी क्रीड़ाएँ करते हैं और इस प्रकार उन्होंने क्रीडारङ्गमें अपनी किशोरावस्थाको सफल किया है।

कामक्रीड़ाका तात्पर्य है—प्रेमलीला। यहाँ निरन्तरसे तात्पर्य यथावसर है, यदि हर क्षण, हर पल इसका अर्थ ले लिया तो लीलातारतम्यमें विसङ्गति हो जाएगी। उनकी गोचारण आदि समस्त अन्यान्य लीलाएँ भी यथासमयपर सम्पन्न होती रहती हैं, जो ब्रजगोपियोंके साथ क्रीडारूप मुख्य लीलाका ही अङ्ग विशेष है ॥१८८॥

वाचा सूचितशर्वरीरतिकला प्रागल्भ्यया राधिकां-

ब्रीडाकुञ्चित-लोचनां विरचयन्नग्रे सखीनामसौ।

तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारं गतः

कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः ॥१८९॥

ये श्रीकृष्ण प्रागल्भ्यतासहित पूर्व रात्रिके रतिकला-औद्भूत्य सम्बन्धी वचनोंके द्वारा सखियोंके सम्मुख ही श्रीराधाजीके नयनोंको लज्जाके

द्वारा आवृतप्राय कराकर तथा उनके उरोज युगलमें विचित्र-केलि-मकरी-आदिकी आकृतिका चित्रणकर अपने पाण्डित्यकी पराकाष्ठा प्रदर्शित कर रहे हैं। इस प्रकार ये हरि रसक्रीड़ा द्वारा श्रीकुञ्जोंमें विहार करते हुए अपने कैशोरवयसको सफल कर रहे हैं ॥१८९॥

प्रभु कहे,—“एहो हय, आगे कह आर।

राय कहे,—“इहा वई बुद्धि-गति नाहि आर ॥१९०॥

येवा ‘प्रेमविलास-विवर्त्त’ एक हय।

ताहा शुनि’ तोमार सुख हय, कि ना हय ॥” १९१ ॥

एत बलि’ आपन-कृत गीत एक गाहिल।

प्रेमे प्रभु स्वहस्ते ताँर मुख आच्छादिल ॥१९२॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—श्रीराधाकृष्णके विलासके सम्बन्धमें आपने जो कुछ बतलाया, यह तो ठीक है, परन्तु इसके आगे भी कुछ और कहिए। श्रीराय रामानन्दने उत्तर दिया—प्रभो! इससे आगे कुछ और कहना मेरी बुद्धिकी गतिसे अगम्य है। फिर भी प्रेमविलासविवर्त्त एक अवस्था है। उसे सुनकर आपको सुख होगा या नहीं, यह मैं नहीं जानता। ऐसा कहकर राय रामानन्द स्वरचित एक गीतका गान करने लगे—उसे सुनते ही महाप्रभुजीने निज करकमलोंसे उनके मुखको आच्छादित कर दिया।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि प्रस्तुत पयारसे महाप्रभुका अभिप्राय यह है कि रामानन्दने साध्य निर्णयमें श्रीराधाकृष्णके प्रेमका वर्णन किया और धीरललित नायकके रूपमें श्रीराधाकृष्णके विलासके महत्त्वको भी प्रतिपादित किया, अखण्ड रसवल्लभा, महाभावविग्रहा, स्वयं कान्ताप्रेमारूपा श्रीराधिकाके साथ अखिलरसामृतसिन्धु, शृङ्गार रसराज विग्रह साक्षात्-मन्मथ मदन श्रीकृष्णमें केलिविलासकी महिमा प्रकट की, इससे भी आगे वे कुछ और बताएँ। रामानन्दजीने कहा इससे आगेकी रसकीर्तिके श्रोता एवं वक्ता दोनों ही सुदुर्लभ हैं, वह बुद्धिके अतीत है, लेकिन एक प्रेमविलासका विवर्त्त है, उसका वर्णन कर रहा हूँ, परन्तु आपको उससे सुख मिलेगा या नहीं, यह सन्दिग्ध

है। प्रेमविलासतत्त्व दो प्रकारका होता है—सम्भोग एवं विप्रलम्भ। विप्रलम्भके बिना सम्भोगकी पुष्टि नहीं होती। यह विवर्ततत्त्व अधिरूढ़ भाववशतः सम्भोगमें भी वियोगकी पुष्टि करा देता है। इसमें एक कल्पका समय भी क्षणभरका प्रतीत होता है। श्रीकृष्णके सुखी रहनेपर भी उनके कष्टकी आशंकासे चित्त खिन्न हो जाता है, मोहसे रहित होनेपर भी अपने-आप आदि सब कुछका विस्मरण होता है तथा क्षणभरका समय भी कल्प जैसा प्रतीत होता है।

प्रेमविलासका अर्थ है—प्रेमजनित विलास या केलि; विवर्तका अर्थ है—विपरीत, परिपाक और भ्रम या भ्रान्ति। अतः प्रेमविलास—विवर्तका तात्पर्य हुआ—प्रेमजनित विलासकी परिपक्वता या चरमोत्कर्षता। इस चरमोत्कर्षतामें भ्रान्ति और वैपरीत्य या विपरीत विहार होता है।

यह सम्राटशिरोमणि प्रेमविलासविवर्त वस्तुतः अति चमत्कारी है, अत्यद्भुत है। यथा—

अद्वैताद्गिरिजां हराद्धवपुषं सख्यात्प्रियोरः स्थितां
लक्ष्मीमच्युतचित्तभृङ्गनलिनीं सत्यां स सौभाग्यतः।
माधुर्यान्मधुरेशजीवितसखीं चन्द्रावलीं च क्षिपन्
पश्यारुद्ध हरिं प्रसार्य लहरीं राधानुरागाम्बुधि॥

(उ. नी. १४/१७८)

श्रीराधाके अनुराग-सागरकी लहरियोंका ऐसा विस्तार है कि अद्वयभावके कारण श्रीमहेश्वरकी अर्द्धाङ्गिनी पार्वतीको, सख्यके कारण श्रीनारायणके वक्षस्थलपर विराजित लक्ष्मीदेवीको, सौभाग्यके कारण श्रीकृष्णके मन-मधुकरकी कमलिनी तुल्या सत्यभामाको तथा माधुर्यके कारण मधुरेशकी प्राणसखी चन्द्रावलीको भी पराभूतकर श्रीकृष्णको सम्यक् रूपसे समावृत कर रखा है।

प्रेमविलास अर्थात् प्रेमक्रीड़ा, विवर्त अर्थात् प्रेमवैचित्त्य अर्थात् प्रेमकी चरमोत्कर्षावस्था। जिसमें प्रेमकेलि करते हुए रमण एवं रमणी दोनों ही परस्पर भेदज्ञानशून्य हो जाते हैं, उन्हें विलासके अतिरिक्त आत्मविस्मृति भी हो जाती है, दोनोंका ही देह एवं चित्त ऐसा

विगलित हो जाता है कि दोनों एक हो जाते हैं, कोई पृथक्त्व या भेदकी प्रतीति नहीं रह पाती, प्रेम-प्राचुर्यमें तादाम्यताकी परमावधि हो जाती है। मैं कान्ता हूँ, तुम कान्त हो—यह ज्ञान भी विलासजनित भ्रमके कारण लुप्त हो जाता है। इस अवस्थामें कभी-कभी श्रीराधाजी अपनेको रमण और श्रीकृष्णको रमणी माननेका भ्रम भी करती हैं—यही विपरीत भाव है।

“राधे! मधुसूदन चला गया है।” मधुमङ्गलके इस कथनपर श्रीराधाका श्रीकृष्णके समीप होनेपर भी कृष्णविरह भावसे विलाप प्रेमविलासविवर्त ही है ॥१९०-१९२॥

श्रीराय रामानन्द द्वारा रचित गीत—

पहिलेहि राग नयनभङ्गे भेल।
 अनुदिन बाढ़ल, अवधि ना गेल ॥
 ना सो रमण, ना हाम रमणी।
 दुहूँ-मन मनोभव पेषल जानि ॥
 ए सखी, से-सब प्रेमकाहिनी।
 कानुठामे कहवि विछुरल जानि ॥
 ना खोंजलुं दूती, ना खोंजलुं आन।
 दुहुको मिलने मध्ये पाँचबाण ॥
 अब् सोहि विराग, तुहुँ भेलि दूती।
 सु-पुरुख-प्रेमक ऐछन रीति ॥” १९३ ॥

विरहिणी श्रीराधाजी कह रही हैं—अहो! परस्पर मिलनसे पूर्वकालमें पूर्वरामके समय सर्वप्रथम एक-दूसरेके नयनोंके मिलते ही—एक पलक गिरनेमें जितना समय लगता है, उतने ही अल्पतम समयमें अर्थात् बिना विलम्बके तत्क्षण ही राग नामक एक भावका उदय हुआ। वह राग उत्पन्न होनेपर दिन-दिन बढ़ने लगा। थोड़े ही दिनोंमें—अत्यन्त अल्प समयमें ही वह इतना बढ़ गया जिसकी सीमा न रही। उस रागकी निरवच्छिन्न वृद्धि कभी भी स्थगित नहीं हुई, निरन्तर बढ़ता ही गया।

राधा-प्रेम विभु,—यार बाड़िते नाहि ठाजि।

तथापि से क्षणे क्षणे बाड़ये सदाई॥

(चै. च. म. ४/१२८)

श्रीराधाका प्रेम विभु वस्तु है, यद्यपि उसमें वृद्धि होनेका तनिक भी अवकाश नहीं है, फिर भी वह क्षण-क्षणमें निरन्तर बढ़ता ही गया। श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

मन्माधुर्य राधारप्रेम—दोहे होड़करि'।

क्षणे-क्षणे बाड़े दोहे, केह नाहि हारि॥

(चै. च. म. ४/१४२)

वह राग हम दोनोंके स्वभावजनित ही है। अर्थात् श्रीकृष्णको सुखी करनेकी श्रीराधाकी वासना और श्रीराधाको सुखी करनेकी श्रीकृष्णकी वासना—उनमें स्वाभाविकी है। रमणस्वरूप श्रीकृष्ण ही उसके कारण नहीं हैं अथवा रमणीस्वरूपा मैं भी उसका कारण नहीं हूँ। परस्परके अपाङ्ग-दर्शनसे जो राग उदित हुआ, वही मनोभव अर्थात् मदन होकर परस्पर हम दोनोंके मनको—परस्पर सुखी करनेकी वासनाको पीसकर या द्रवितकर एक कर दिया, अभिन्न कर दिया। उस समय हम दोनोंकी परम उत्कण्ठावशतः विलास-व्यापारमें ही निविड़ तन्मयता थी तथा विलास व्यतीत अन्य सभी विषयोंको हमलोग भूल गए थे। तात्पर्य यह है कि उस समय श्रीकृष्ण रमण या कान्त हैं—यह श्रीकृष्ण भूल जाते हैं और श्रीराधाके मनमें भी यह भाव नहीं रहता है कि वे रमणी या कान्ता हैं, “से सब प्रेमकाहिनी”—हे सखि! विच्छेदके समय पूर्वोक्त प्रेमकी कहानी यदि कृष्ण भूल गए हों—ऐसा समझनेपर तुम उनसे कहना अथवा तुम स्वयं उनसे कहना मत भूलना; क्योंकि मथुरा नगरीका यह प्रभाव है कि जो वहाँ जाता है—पहलेका सब कुछ भूल जाता है। हाँ, तो उनसे कहना कि मिलनेके समय हमने न तो किसी दूतीका अन्वेषण किया और न अन्य किसीसे भी हमने परस्पर मिलानेके लिए अनुरोध किया; केवल परस्पर मिलनकी तीव्र उत्कण्ठा ही अर्थात् अनङ्गरूप पञ्चबाण ही हमारे मिलनके मध्यस्थ अर्थात् एकमात्र कारण थे। इस

प्रकार श्रीराधाके ललनानिष्ठ मज्जिष्ठा रागको सूचित किया गया है, क्योंकि इसी विशेष रागमें निरुपाधिकत्व, अनन्य सापेक्षत्व आदि देखा जाता है। श्रीराधाकृष्णके इस मिलनमें किसी दूती, आप्तदूती आदिकी आवश्यकता नहीं हुई।

सोहि—किन्तु वे ही कृष्ण अब अनुरागरहित हो गए हैं। जिस अनुरागके प्रभावसे बिना किसीकी सहायतासे ही मुझसे मिलते थे, उससे वे विस्मृत हो गए हैं। विराग—विच्छेदके समय वही राग विराग अर्थात् विशिष्टराग या विच्छेदगतराग अथवा अधिरूढ़भावके रूपमें “तुँहूँ भेलि दूति” हे सखि! तुमको ही दूती होना पड़ा। मैं तुम्हींको उनके समीप भेज रही हूँ। “सुपुरुष-प्रेमकि-ऐछन रीति”—तुम उनके समीप जाकर यह पूछना कि क्या विदग्ध नागर सत्पुरुषोंके प्रेमकी यही रीति है कि पहले प्रेम करना और फिर उसे भुला देना? श्रीराधाजीकी यह उक्ति परिहासोक्ति है। तात्पर्य यह है कि अत्यधिक अनुरागके कारण पहले मिलित होकर पीछे उस अनुरागको भूल जाना विदग्ध नागर आपके लिए सर्वथा अनुचित है।

मूल तात्पर्य यह है कि सम्भोगके समयमें राग जिस प्रकार अनङ्ग रूपसे मध्यस्थ रहता है, विप्रलम्भमें वही राग अधिरूढ़-भावापन्न होकर प्रेमविलासविवर्त बन जाता है और जब विप्रलम्भमें सम्भोगकी स्फूर्ति होती है, तब यह दूतीस्वरूप बन जाता है। उसीको श्रीराधाजी ‘सखी’ नामसे सम्बोधितकर उससे वार्तालाप कर रही हैं। वस्तुतः प्रेमविलास सम्भोगमें जो आनन्द उपलब्ध होता है, उस आनन्दका विप्रलम्भमें भी आस्वादन होता है। और भी, विप्रलम्भमें श्रीकृष्णमें तन्मयताके कारण सेवाकी पराकाष्ठा परमोच्च अवस्था तक पहुँचती है। विवर्त भावापन्न अधिरूढ़ महाभावमें ऐसा एक प्रकारका सम्भोग उदित होता है कि जिसके उदित होनेपर तमालादिमें श्रीकृष्णका भ्रम होनेपर राधाजी उसका आलिङ्गन करनेके लिए दौड़ पड़ती हैं। प्रस्तुत गीत श्रीराय रामानन्द द्वारा विरचित है। गायनका कुछ भाग सुनते ही श्रीमन्महाप्रभु प्रेमसे विह्वल हो उठे और अपने ही हाथोंसे रामानन्द रायका मुख ढक दिया। विच्छेदकालमें हुई राधाजीकी स्फूर्तिको रायजीने प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत गीतमें अभिव्यक्त राग श्रीकृष्ण एवं

श्रीराधा दोनोंका ही स्वभावजनित है। रमणस्वरूप श्रीकृष्ण इस रागके मूलभूत कारण हैं—ऐसा नहीं है अथवा रमणीस्वरूपा श्रीराधा ही इस रागकी मूलभूत स्वरूपा हैं—ऐसा भी नहीं है। यह राग मादनाख्य महाभावकी स्थिति तक पहुँचा हुआ है। एक ही समय सारे भाव उल्लसित हो रहे हैं। यह भाव ऐसा अपूर्व एवं अनिर्वचनीय है कि एक ही प्रकाशमें असंख्य प्रकारेण सम्भोगानन्दकी और विरहकी साक्षात् अनुभूति होती है। यथा—“न सो रमण ना हाम रमणी”—प्रेमविलास संयोगकी परिपक्वावस्था है “अब सोई विराग” पदमें परस्पर विरहकी झाँकी है।

उज्ज्वलनीलमणिके “वकारे सुमुखि नवविवर्तः” इत्यादि श्लोककी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीपाद विवर्त पदका अर्थ ‘परिपाक’ कहते हैं—विवर्तः परिपाकः। ललितमाधव नाटकके प्रथम अङ्कमें भी “पौर्ण पुत्रि मायाविवर्तौऽयं” की टिप्पणीमें “अन्यधर्मत्यायत्रारोपो विवर्तः” प्रेमविलासविवर्तकी परिचर्चा है। प्रेमका अर्थ काम, विलासका अर्थ क्रीड़ा और विवर्तका अर्थ परिवर्त है। परिवर्त अर्थात् विपरीत कामक्रीड़ा। श्रीकृष्ण द्वारा कामक्रीड़ाके स्थानपर श्रीराधाजी द्वारा निष्पादित कामक्रीड़ा अर्थात् विपरीत विलास। यह विपरीत विलास अत्यन्त साधु है, इसके सदृश अथवा इससे उच्च और कोई विलास नहीं है। विलासकी इसी परिपक्वावस्थामें राधाजी द्वारा उच्चरित हुआ “ना सो रमण ना हाम रमणी”—तत्पश्चात् “अब सोई विराग” की अवस्था आई जो असह्य है। अतः महाप्रभुने इसका निवारण करनेके लिए श्रीरायजीका मुख आच्छादित कर दिया।

शचीनन्दन श्रीगौरसुन्दर—रसराय श्रीकृष्ण और महाभावस्वरूपिणी श्रीराधाके सम्मिलित रूप हैं। “राधाभावद्युति सुवलितं नौमि कृष्ण-स्वरूपम्” (चै. च. आ. ४/५५)। किन्तु श्रीगौरहरि अपने इस स्वरूपको—अन्तःकृष्ण बहिर्गौर स्वरूपको छिपाकर रखना चाहते थे, उसे सर्वसाधारणमें प्रकट नहीं करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने राय रामानन्दका मुख आच्छादनकर आगे कुछ कहनेसे रोक दिया। जगद्गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर प्रभुपादने श्रीमन्महाप्रभु द्वारा श्रीराय रामानन्दके मुखको आच्छादन करनेका और भी एक

कारण दिखलाया है। श्रीरामानन्द रायके द्वारा कहे गए प्रेमवैचित्त्यके अन्तर्गत जिस 'मोहन-मादन' आदि अधिरूढ़ महाभावके विलासवैचित्र्य और विलासविवर्तका विचार अभिव्यक्त हुआ है, उसका अनुसरण करनेमें प्राकृत सहजिया-सम्प्रदाय सर्वथा असमर्थ है। भजनराज्यकी ऐसी निगूढ़ चमत्कारिता और अपूर्वता अर्वाचीन जड़ दार्शनिक समाजमें प्रचार करना सर्वथा अनुचित है। इसीलिए श्रीमन्महाप्रभुजीने रायका मुख आच्छादितकर उन्हें आगे कहनेके लिए रोक दिया।

मुखाच्छादन विषयमें श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटकमें कहा है—
“निरुपाधि हि प्रेम कथञ्चिदप्युपाधि न सहते इति पूर्वाब्द्धं भगवतोः
राधाकृष्णयोरनुपाधि प्रेम श्रुत्वा तदेव पुरुषार्थीकृतं, भगवता मुखपिधानञ्चास्य
तद्रहस्यत्वप्रकाशकम्”—अर्थात् श्रीराधाकृष्णके निरुपाधि प्रेम-श्रवणके
द्वारा ही श्रीचैतन्यदेवके सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ प्रेमको समझा जा सकता है।
रामानन्दके मुखसे जो प्रेमरहस्य प्रकाशित हुआ, उसे सुनकर
महाप्रभुजीने श्रीरायजीका मुख बन्द कर दिया। वे राधाजीके इस
असाधारण प्रेमविलासको प्रकाशित नहीं करना चाहते थे। इसी
नाटकके सप्तम अङ्कमें कहा गया है—

सखि न स रमणो नाटं रमणीति भिदावरोवास्ते।

प्रेमरसेनोभय इन मदनो निदि पेष बलात्॥

अथवा—

अहं कान्ता कान्तस्त्वमिति न तदानीं मतिरभू,

न्मनोवृत्तिर्लुप्तात्वमहमिति नौ धीरपि हता।

भवान् भर्ता भार्याहमिति यदिदानीं व्यवसिति,

स्तथापि प्राणानां स्थितिरिति विचिचं किमपरं॥

रायरचित गीतमें राधाजीका आशय यह था कि बाल्यावस्थाके प्रारम्भमें ही यह काम हृदयमें विराजमान था। जब पहली बार दोनोंने एक दूसरेको देखा तो कामका सञ्चार हुआ अर्थात् प्रथम दर्शनमें ही चक्षुकटाक्षसे राग हृदयमें उदित हो गया—अभी मिलन नहीं हुआ है—यह अवस्था श्रीरूपगोस्वामी द्वारा 'पूर्वराग' शब्दसे अभिहित हुई है।

तदनन्तर यह राग दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा और तब “ना सो रमण, ना हाम रमणी” अर्थात् श्रीकृष्ण मेरे पति नहीं हैं और न ही मैं उनकी पत्नी हूँ—तथापि यह कन्दर्प दोनोंके मन, हृदयोंको कोमलीकृत बनाकर एक बना रहा है। यह भाव नहीं रहता कि श्रीकृष्ण रमण, रतिकर्ता नायक हैं और मैं (राधाजी) रमणी अथवा रतिसम्पदादिनी नायिका हूँ। इस भावके अभावमें भी कन्दर्पने हम दोनोंके हृदयको पीसकर एक बना दिया है और उस चूर्णमें रमण एवं रमणीकी पृथक्ता ही नहीं रही और अब इस विरहमें हे कृष्ण! विरह ही दूती बन गया। सत्पुरुषोंके प्रेमकी रीति ऐसी नहीं हुआ करती॥१९३॥

राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्—
युञ्जन्नद्रि—निकुंज—कुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे
भूयोभिर्नव—राग—हिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुःकृती॥१९४॥

(उ. नि. १४/१५५)

हे शैलकुञ्जोंमें विहार करनेवाले मत्त गजराज! शृङ्गाररूप सुनिपुण शिल्पीने भावोष्मारूप अग्निताप द्वारा श्रीराधा और तुम्हारे दोनोंके चित्तरूप लाक्षाको द्रवीभूतकर धीरे-धीरे दोनोंको एकत्रकर भेदभ्रमको दूर कर दिया है और इस ब्रह्माण्डरूप देवगृहमें उसी व्यापारका चित्र अंकन करनेके लिए नवरागरूप हिङ्गुलसमूहका प्रयोगकर स्वयं ही अनुरञ्जित किया है।

महाभावके वैशिष्ट्यका चरमतम विकास ‘मादनाख्य’ है, अतः महाप्रभुजीने प्रेमके विषयमें यह अन्तिम प्रश्न पूछा और जब परिपूर्णतम उत्तर मिला तो मुख आच्छादित कर दिया।

प्रस्तुत श्लोक महाभाव—माधुरीका अनुमोदन करते हुए श्रीवृन्दादेवीने कहा है—एकबार जब राधाकृष्ण परस्पर माधुर्यका आस्वादन कर रहे थे, तब उनकी देह उद्दीप्त सत्त्वमय भावोंसे अलंकृत हो रही थी। यथा किसी भवनको लालवर्णसे रञ्जित करनेके लिए शिल्पी लाखको अग्निमें गलाकर, उसमें लाल रङ्ग डालकर प्रभूत रूपसे मथकर एक उद्दीप्तमान रङ्ग तैयार कर लेता है, उसी प्रकारसे शिल्पीरूप शृङ्गार

रसने राधा एवं कृष्णके महाभावपूर्ण चित्तरूपी लाक्षाको प्रेमरूप अग्निसे विगलित करके उसमें प्रभूत मात्रामें नित्य नव-नवायमान राग-रङ्ग डालकर, उसे अद्भुत एवं अतिशय चमत्कारपूर्ण बना दिया है।

अद्रिनिकुञ्ज कुञ्जरपते अर्थात् अद्रि-गोवर्धन शैलपर स्थित कुञ्जके कुञ्जरपति श्रीकृष्ण—यह सम्बोधन वृन्दादेवी द्वारा किया गया है। मदमत्त गजेन्द्र जिस प्रकार हथिनियोंको लेकर स्वच्छन्द भावसे विहार करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी प्रेमोन्मत्त होकर राधाजीके साथ गिरिगोवर्द्धनकी निकुञ्जोंमें स्वच्छन्द रूपसे विहार करते हैं। भावोष्मारूप अग्निताप अर्थात् स्वेद नामक सात्त्विक भावरूप ताप द्वारा दोनोंका लाक्षारूपी चित्त द्रवीभूत हुआ है। नवराग ही हिङ्गुल है—जिससे उन दोनोंका चित्त अभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों ओरसे अनुरञ्जित हुआ है। लाख जैसे भीतर एवं बाहर दोनों ही ओर लाल रङ्गकी ही होती है, उसी प्रकार उन दोनोंके चित्तमें मजिष्ठा राग बहुल परिमितमें स्थित है—जो मादनाख्य महाभाव स्वरूप है। कृती अर्थात् अपने कार्यमें निपुण शृङ्गाररसरूप शिल्पीने श्रीराधाकृष्णके चित्तरूप लाक्षाको गलाकर, मिलाकर भलीभाँति एकीभूतकर नवरागरूप हिङ्गुल द्वारा रञ्जित किया है। निपुण शिल्पी जिस प्रकार किसी राजभवनके भीतर ऐसी विचित्र और सुन्दर चित्रकारी करता है, जिससे संसारके लोग आश्चर्यचकित हो जाए; उसी प्रकार शृङ्गाररस-शिल्पीने श्रीराधा और श्रीकृष्णके महाभावस्वरूप-प्राप्त दोनोंके चित्तको प्रेमके प्रभावसे गलाकर, मिलाकर इस प्रकार एकीभूत कर दिया है कि लोग उसे अलग-अलग समझ ही नहीं पाते। ब्रह्माण्डवासी भक्तगण श्रीराधाकृष्णके वैसे चित्तके महाभाव-क्रिया-क्षोभका अनुभवकर आश्चर्यचकित हो जाए—इसी उद्देश्यसे ॥१९४॥

प्रभु कहे,—“साध्यवस्तुर अवधि’ एइ हय।

तोमार प्रसादे इहा जानिलुँ निश्चय ॥१९५॥

‘साध्यवस्तु’ ‘साधन’ बिना केह नाहि पाय।

कृपा करि’ कह, राय, पावार उपाय ॥”१९६॥

राय कहे,—“येइ कहाओ, सेइ कहि वाणी।
 कि कहिये भाल-मन्द, किछुइ ना जानि ॥१९७॥
 त्रिभुवन-मध्ये ऐछे हय कोन धीर।
 जे तोमार माया-नाटे हइवेक स्थिर ॥१९८॥
 मोर मुखे वक्ता तुमि, तुमि हओ श्रोता।
 अत्यन्त रहस्य, शुन, साधनेर कथा ॥१९९॥
 राधाकृष्णेर लीला एइ अति गूढतर।
 दास्य-वात्सल्यादि भावे ना हय गोचर ॥२००॥
 सबे एक सखीगणेर ईहा अधिकार।
 सखी हैते हय एइ लीलार विस्तार ॥२०१॥
 सखी बिना एइ लीला पुष्ट नाहि हय।
 सखी लीला विस्तारिया, सखी आस्वादय ॥२०२॥
 सखी विना एइ लीलाय अन्येर नाहि गति।
 सखीभावे ये तँरे करे अनुगति ॥२०३॥
 राधाकृष्ण-कुंजसेवा साध्य सेई पाय।
 सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय ॥२०४॥

श्रीराय रामानन्द द्वारा प्रस्तुत गीत श्रवणके पश्चात् श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा—राय! बस यही साध्य वस्तुकी अन्तिम सीमा है। तुम्हारी कृपासे (महाप्रभुकी यह दैन्योक्ति है) मैंने इस साध्य वस्तुके तारतम्यको समझा है। किन्तु ऐसे दुर्लभ साध्य वस्तुकी उपलब्धि, बिना साधनके नहीं हो सकती। अतः कृपया साध्य वस्तुकी प्राप्तिका उपाय भी बतलाइए।

यह सुनकर राय रामानन्दने बड़े ही विनम्र भावसे कहा—जो आप मेरी इस वाणीसे कहलवा रहे हैं, मैं वही कहता जा रहा हूँ। इसमें क्या अच्छा है और क्या बुरा—यह मैं कुछ भी नहीं समझता। इन तीनों लोकोंमें कौन ऐसा धैर्यवान पुरुष है, जो आपके माया-नाटकको देखकर अस्थिर न हो जाए? मेरे मुखमें आप ही

वक्ता हैं और आप ही श्रोता बने हुए हैं। आप इस अत्यन्त रहस्यमय साधनकी कथा सुनिए। श्रीराधाकृष्णकी यह लीला अति रहस्यतम है। दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भावाश्रित परिकरोंके द्वारा भी अगोचर है, अनधिगम्य है अथवा दुर्लभ है। इस लीलामें तो एकमात्र श्रीराधाजीकी सखियोंका ही अधिकार है। क्योंकि उन्हींमें महाभाव विराजित है। सखियाँ ही इस लीलाका विस्तार करती हैं और सखियाँ ही इसका आस्वादन भी करती हैं। सखीभावके अतिरिक्त अन्य भाववालोंका यहाँ प्रवेश नहीं है। जो साधक सखीभावका आनुगत्य करता है, वही श्रीराधाकृष्णकी कुञ्जसेवारूप साध्य-वस्तुकी प्राप्ति कर सकता है—इसके अतिरिक्त इस साध्यकी प्राप्तिका और कोई उपाय नहीं है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—महाप्रभु यहाँ तक श्रवण करके कहने लगे कि साध्य वस्तुका समग्र रूपसे निरूपण हो गया। अब इस चरम साध्य वस्तुकी प्राप्तिका साधन या उपाय क्या है? यह बतलाइए। तब रामानन्दजीने पूर्वोक्त कथनकी ही पुनरावृत्ति की कि दास्य, सख्य, वात्सल्य भावके साधक अथवा आराधक अपने उन-उन भावोंसे इस गूढ़तम तत्त्वकी उपलब्धि नहीं कर सकते। ब्रजकी सखियोंमें ही महाभावकी स्थिति है—उनके ही भावोंको ग्रहणकर, उनका ही आनुगत्यकर साधन करनेसे अति मधुरतम, रहस्यतम, गूढ़तम, उज्ज्वलतम श्रीराधाकृष्णकी कुञ्जसेवारूप साध्य-वस्तु प्राप्त की जा सकती है—अन्यथा उसे पानेके लिए और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

यहाँ सखीके बिना इस लीलामें अन्य किसीकी गति नहीं है, इसका तात्पर्य यह है कि वे ललिता, विशाखा आदि अथवा श्रीरूपमञ्जरी आदि सखियाँ ही श्रीराधाकृष्णकी कुञ्जसेवा करनेवाली नित्यपरिकर हैं। उनके आनुगत्यमें साधन करना आवश्यक है।

जीवोंमें विशुद्ध साधुसङ्गके अभावमें जगतकी भौतिक कामनाएँ, स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्तिकी कामनाएँ, भगवान्‌के अन्यान्य धामोंकी प्राप्तिकी कामनाएँ बनी रहती हैं। भगवान् भी उन्हें पूर्ण कर ही देते हैं। रसराज महाभाव मिलित तनु प्रेमावतारी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने शुद्ध ब्रजप्रेमकी महिमाका वितरण किया, उन्नतोज्ज्वल प्रेम विशेषतः

राधाजीके मादनाख्य भावका आस्वादन किया और शुद्ध साधकोंपर कृपा करने हेतु ये उत्तम प्रश्न पूछकर राय रामानन्दके मुखसे गूढ़तम रहस्योंको कहलवाया। श्रीमन्महाप्रभुजीकी कृपासे, उनके भक्तोंके आनुगत्यमें रहनेसे ही ऐश्वर्यप्रेम एवं माधुर्यप्रेममें पार्थक्य समझा जा सकता है।

दास्य, सख्य एवं वात्सल्यरसोंमें महाभाव नहीं होता। वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका एवं मथुरामें जो मधुर या शृङ्गाररस है, वह ऐश्वर्य मिश्रित स्वकीय है। इससे श्रीकृष्ण वशीभूत नहीं हो सकते। लक्ष्मीदेवीका शुद्ध कान्ताभावकी प्राप्ति हेतु बेलवनमें तपस्या करना यही सिद्ध करता है। निकुञ्ज रसकी परिपाटीकी अधिकारिणी एवं भाव तारतम्यकी विभागाध्यक्षा राधाजीकी सखियाँ हैं—अतः श्रीराधाकृष्णकी सेवा हेतु इन सखियोंकी अनुगति ही श्रेष्ठतम साधन है॥१९५-२०४॥

विभुरपि सुखरूपः स्वप्रकाशोऽपि भावः

क्षणमपि न हि राधाकृष्णयोर्या ऋते स्वाः।

प्रवहति रसपुष्टिं चिद्विभूतीरिवेशः

श्रयति न पदमासां कः सखीनां रसज्ञः॥२०५॥

(गोविन्दलीलामृत १०/१७)

जिस प्रकार ईश्वरकी चिद्विभूतिके बिना ईश्वरत्वकी पुष्टि नहीं होती, उसी प्रकार श्रीराधाकृष्णका भाव स्वप्रकाश, सुखरूप और विभु अर्थात् अनन्त होनेपर भी सखियोंके बिना एक क्षण भी रसपुष्टि लाभ नहीं कर सकता। अतएव तत्प्रविष्ट ऐसा कौन रसज्ञ है, जो सखियोंका पदाश्रय—आनुगत्य न करेगा?

श्रीराधाकृष्णका भाव अति सुखरूप है अर्थात् सुखकी पराकाष्ठारूप है। मिश्री मुखमें रहनेसे अपने-आप ही उसकी मिठास अनुभूत होती है। उसी प्रकार कान्तरसका प्रेमी साधक अपने-आप ही उस रसके माधुर्यका अनुभव कर सकता है, उसे चूड़ान्त सुखका आस्वादन भी हो सकता है, परन्तु सखियोंके आनुकूल्यके बिना श्रीराधाकृष्णके इस प्रेमका सुखरूपत्व रसपुष्टिको धारण नहीं कर सकता है। विभुत्व और स्वप्रकाशत्वकी यहाँ आवश्यकता ही कहाँ? स्वरूपशक्ति स्वयंमें

विभु है, ब्रह्मवस्तु है, उसका विलास-विशेष ही प्रेम है, भक्ति है। वस्तुतः प्रेम अथवा भक्ति विभु नहीं होते, तो ब्रह्मवस्तु भगवान्‌को वे किस प्रकार वशीभूत कर सकते थे। श्रुतियाँ कहती हैं—“भक्तिरेव गरीयसी” भक्तिवशः पुरुषः। समुद्रमें अथाह जल रहता है, परन्तु वायुके वेगसे उसमें तरङ्गें उत्थित होती हैं और प्रतीत होता है समुद्र उच्छलित हो रहा है। उसी प्रकार प्रेमोदधिरूप श्रीराधाकृष्णका प्रेम स्वप्रकाश होनेपर भी सखियोंके साहचर्यरूपी तरङ्गोंसे वह पुष्ट होता है। राधाकृष्ण प्रेमतत्त्वमें सखियोंकी अद्भुत महिमा है। यथा स्वयं ईश्वर विभु एवं स्वप्रकाश होनेपर भी चित्-शक्तिके साहचर्यसे उसका ईश्वरत्व और भी पुष्ट होता है, उसी प्रकार सखियोंके साहचर्यसे शृङ्गाररस पुष्ट होता है। प्रेमतत्त्व एवं सखियोंमें कोई पार्थक्य है ही नहीं, सखियाँ प्रेमस्वरूपिणी हैं, प्रेमकी विग्रहस्वरूपा हैं और ह्लादिनीकी प्रतिमूर्तियाँ हैं ॥२०५॥

सखीर स्वभाव एक अकथ्य-कथन।

कृष्णसह निजलीलाय नाहि सखीर मन ॥२०६॥

कृष्णसह राधिकार लीला जे कराय।

निज-सुख हैते ताते कोटि सुख पाय ॥२०७॥

राधार स्वरूप—कृष्णप्रेम—कल्पलता।

सखीगण हय तार पल्लव-पुष्प-पाता ॥२०८॥

कृष्णलीलामृत यदि लताके सिंचय।

निज-सुख हैते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय ॥२०९॥

सखियोंका स्वभाव अपूर्व, अवर्णनीय है। श्रीकृष्णके साथ वे स्वयं निजसुखके लिए केलिलीला करें—यह उनके मनमें ही नहीं आता। श्रीकृष्णके साथ राधिकाको निभृतलीलाएँ करानेमें उन्हें जिस सुखकी अनुभूति होती है, उस सुखको वे स्वयंके साथ क्रीड़ाविलास करनेसे भी कोटिशः-कोटिशः अधिक मानती हैं। श्रीकृष्णप्रेमरूप कल्पलताके समान श्रीराधाजी हैं और सखियाँ उस प्रेमकल्पलताकी पल्लव, पुष्प एवं पत्रादि स्वरूपा हैं। श्रीकृष्णलीलामृतसे यदि लताको अभिसिंचित

किया जाए तो पल्लव पुष्पपत्र आदि अपने सिंचनसे इतने सुखी नहीं होते जितना कि लताके अभिसिंचनसे।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि श्रीराधाजी श्रीकृष्णकी प्रेम-कल्पलतास्वरूपा हैं और समस्त सखियाँ उस लताके पल्लव, पुष्प एवं पत्र हैं। लतारूप श्रीराधिकाका पदाश्रय लेकर उस प्रेमरूप लताको जलसे सिंचाई की जाए तो पल्लवादि अपने-आप प्रफुल्लित-विकसित हो उठते हैं, उसी प्रकार गोपियोंको स्वयं श्रीकृष्णसे मिलनेमें सुखकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि श्रीराधाकृष्णका मिलन करानेसे ही उन्हें प्रफुल्लता होती है॥२०६-२०९॥

सख्यः श्रीराधिकाया व्रजकुमुदविधोर्हादिनी-नामशक्तेः

सारांश-प्रेमवल्ल्याः किसलयदलपुष्पादितुल्याः स्वतुल्याः।

सिक्तायां कृष्णलीलामृतरसनिचयैरुल्लसन्त्याममुष्यां

जातोल्लासां स्वसेकाच्छतगुणमधिकं सन्ति यत्तत्र चित्रम्॥२१०॥

(गोविन्दलीलामृत १०/१६)

व्रजकी सखियाँ श्रीराधाके समान और व्रजकुमुद-चन्द्रकी ह्लादिनी नामक शक्तिस्वरूपा श्रीराधिकाकी सारांश प्रेमवल्लरीकी किसलय, पत्र, पुष्प आदि स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण-लीलामृतरस द्वारा परमोल्लासमयी श्रीराधिकाका सिंचन होनेपर ही सखियाँ अपनेको सींची जानेकी अपेक्षा शतगुणा अधिक उल्लसित होती हैं—यह कोई विचित्र बात नहीं है।

व्रजकुमुदविधोः अर्थात् व्रज-कुमुदके विधु अर्थात् व्रजगोपियोंके लिए चन्द्र तुल्य जो श्रीकृष्ण। विधोः—षष्ठी सम्बन्ध पदसे उन कृष्णचन्द्रकी जो आह्लादिनी नामकी शक्ति। शक्तेः—षष्ठी सम्बन्ध पदसे उस ह्लादिनी शक्तिका सारांश 'प्रेम वल्लरी' के। सख्यः—श्रीराधिकायाः—षष्ठी सम्बन्ध पद श्रीराधाजीकी सखियाँ। किसलयदलपुष्पादितुल्याः—नव-पल्लव, पत्र एवं पुष्पादि तुल्य गोपियाँ। स्वतुल्याः स्वयंकी सादृश्यता जिन्हें प्राप्त है ऐसी श्रीराधाजीकी गोपियाँ—उनकी कायव्यूह-स्वरूपा।

चन्द्रमाके उदित होनेपर जिस प्रकार कुमुद स्वतः ही प्रफुल्लित हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनसे कुमुद सदृश व्रजवासी प्रफुल्लित हो उठते हैं—व्रजवासियोंमें भी व्रजरमणियाँ ही विशेष रूपसे प्रसन्न होती हैं; अतः श्रीकृष्णको व्रजकुमुदविधु कहा गया है। इन श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति या ह्लादिनीशक्तिका सारांश प्रेम है और प्रेमकी वल्लरी अर्थात् लता स्वयं श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। गोपियाँ इस लताके नवीन किसलय, सुमन एवं पत्र हैं। ये सखियाँ श्रीराधारूप प्रेम कल्पलताकी शोभा सरीखी हैं। श्रीराधाजीका सुख ही गोपियोंका सुख है। जैसे जलसे लताके मूलको सींच दिया जाए, तो पुष्प, पत्ते, पल्लव स्वयं ही अभिसिञ्चित हो जाते हैं, उन्हें पृथक् रूपसे सींचना नहीं पड़ता। उसी प्रकार श्रीराधाजीके सुखसे पुष्प, पल्लव-पत्ते सदृश समस्त गोपियाँ स्वाभाविक रूपसे ही परितृप्त हो जाती हैं॥२१०॥

यद्यपि सखीर कृष्ण-सङ्गमे नाहि मन।

तथापि राधिका यत्ने करान सङ्गम ॥२११॥

नाना-छले कृष्णे प्रेरि' सङ्गम कराय।

आत्मसुख-सङ्ग हैते कोटि-सुख पाय ॥२१२॥

अन्योन्ये विशुद्ध प्रेमे करे रस पुष्ट।

ताँ-सबार प्रेम देखि' कृष्ण हय तुष्ट ॥२१३॥

सहज गोपीर प्रेम,—नहे प्राकृत काम।

कामक्रीड़ा-साम्ये तार कहि' 'काम'-नाम ॥२१४॥

यद्यपि सखियोंकी श्रीकृष्णके साथ सङ्गम करनेमें किञ्चित् भी इच्छा नहीं होती, फिर भी राधिकाजी बड़े प्रयत्नके साथ उनका श्रीकृष्णसे सङ्गम करा ही देती हैं। अनेक प्रकारके छल, चतुराई, युक्तियोंसे उन्हें श्रीकृष्णके पास भेजती हैं और कृष्णके हृदयमें भी उनसे मिलनेकी प्रेरणा देती हैं और उन्हें भी अपने मिलन-सुखसे जितना आनन्द होता है, उससे भी कोटि गुणाधिक गोपियोंको श्रीकृष्णसे मिलानेमें प्रसन्नता होती है। राधाजी एवं समस्त गोपियोंका

अन्तःकरण विशुद्ध सत्त्वमय है। अतः राधाजी गोपियोंको और गोपियाँ श्रीराधाजीको सतत सुख प्रदान करनेमें और रसके परिपोषणमें नैरन्तर्य भावसे संलग्न रहती हैं। इन सबकी इस परिपाटीको देखकर श्रीकृष्ण बड़े सन्तुष्ट होते हैं। गोपियोंका प्रेम सहज-स्वाभाविक है, इसमें प्राकृत कामकी गन्ध लेशमात्र भी नहीं है। लौकिक कामक्रीड़ाके समान होनेके कारण ही इस प्रेमको काम कहा गया है। गोपियोंका 'काम' और प्राकृत जगतका 'काम' यद्यपि एक जैसा आभासित होता है, तथापि उसमें आकाश-पातालका अन्तर है। इस अप्राकृत काममें स्वसुखकी गन्ध भी नहीं होती, केवल अपने प्राणप्रियतमके लिए सुखका विधान करनेकी लालसा सतत बनी रहती है, अतः यह काम विशुद्ध प्रेम है। प्राकृत जगतका काम आत्मकेन्द्रित, स्वसुखार्थ निपुण, तुच्छ, घृणास्पद एवं नरकगामी होता है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि श्रीराधाजी सखियोंको श्रीकृष्णसेवामें नियुक्त करती हैं और सखियाँ भी श्रीराधाजीको श्रीकृष्णसे मिलाकर प्रसन्न होती हैं। मूर्ख एवं रसहीन व्यक्ति कहते हैं कि चाहे राधाजी श्रीकृष्णसे मिलें अथवा गोपियाँ। उस सङ्गममें भी तो काम और स्वसुख वासना विद्यमान रहती ही है न। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। वास्तवमें श्रीकृष्णके साथ सङ्गम करना-कराना श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए ही सम्पादित होता है। श्रीकृष्णको प्रसन्न देखकर गोपियाँ भी प्रसन्नताका अनुभव करती हैं और सोचती हैं कि हमारा जीवन सार्थक हो गया जो श्रीकृष्णकी सेवामें लगा। इस प्रेमकी छाया तो क्या, इस जगतके लोग इस प्रेमकी धारणा भी नहीं कर पाते। अतः अपनी ही कुत्सित वृत्तियोंके कारण इस अप्राकृत एवं चिन्मय कामको जड़ एवं तुच्छ कामकी तरह देखा करते हैं॥२११-२१४॥

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्॥

इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥२१५॥

(भ. र. सि. १/२/२८५-२८६)

व्रजसुन्दरियोंका 'प्रेम' ही 'काम' शब्दसे विख्यात है, किन्तु वह प्रेम स्वरूपतः लौकिक काम नहीं है, इसलिए उद्धवादि भगवद्भक्तगण इस प्रेमकी अभिलाषा किया करते हैं।

लोहा तथा स्वर्ण जिस प्रकार स्वरूपतः एक जातीय होनेपर भी भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार काम एवं प्रेम एक जातीय प्राय होनेपर भी भिन्न-भिन्न हैं। काम मायाशक्तिकी वृत्ति है तथा प्रेम अप्राकृत स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर आगे कहते हैं कि वेदोंमें कामनाएँ अनेक प्रकारसे अभिव्यक्त हैं—लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा इन शब्दोंके द्वारा जो कामनाएँ उक्त हैं, वे ही लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म, मुक्त्यादि रूप आत्मसुख, आर्यपथ, निज-परिजन-प्रीति, कर्म, लज्जा, धैर्य, स्वजन-ताड़न, भर्त्सन और भय—ये सब आत्म-प्रीत्यर्थ, इन्द्रियादि प्रीत्यर्थ एवं अपनी वाञ्छापूर्ति करनेवाले हैं, इस प्राकृत बुद्धिकी जितनी भी वाञ्छाएँ हैं—वे सब भौतिक हैं और स्वयंके कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व तक सीमित हैं। प्रेम एवं काममें आकाश-पातालका अन्तर है, गोपियोंका काम प्राकृत बुद्धिसे अतीत है ॥२१५॥

निजेन्द्रिय-सुखहेतु कामेर तात्पर्य।
कृष्णसुख-तात्पर्य गोपीभाव-वर्य ॥२१६॥

निजेन्द्रिय-सुखवाञ्छा नाहि गोपिकार।
कृष्णे सुख दिते करे सङ्गम विहार ॥२१७॥

'काम' का तात्पर्य है—अपनी इन्द्रियोंको सुख देना। गोपियोंका जो श्रेष्ठ भाव अर्थात् प्रेम है, उसका तात्पर्य—मात्र श्रीकृष्णका सुख है। इन गोपियोंमें निज-इन्द्रियोंको सुखी करनेकी वाञ्छा कदापि नहीं होती है। उनका सम्पूर्ण सङ्गमविहार श्रीकृष्णको सुख प्रदान करनेके लिए ही होता है।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर व्याख्या करते हैं कि सम्बिद्-विग्रह श्रीकृष्णकी 'परा' सेवाकी वृत्ति काम नहीं कहलाती, परन्तु श्रीकृष्णके सुखका परित्याग करके अन्य सुखकी इच्छा ही काम कहलाती है। जीवन कृष्णसेवापरायण हो और सेवा प्रेममयी हो, तब श्रीकृष्ण प्रसन्न

हों—यह अभिलाषा सखियोंमें अबाधित रूपसे बनी रहती है और ये सब प्रेमकी मूर्तियाँरूप गोपियाँ कटिबद्ध होकर इसी सेवामें तत्पर रहती हैं ॥२१६-२१७॥

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥२१८॥

(श्रीमद्भा. १०/३१/१९)

विरहिणी गोपियाँ विलाप करती हुई कह रही हैं—तुम्हारे श्रीचरण कमलसे भी सुकुमार हैं, जिन्हें हम अपने कठोर स्तनोंपर भी डरते-डरते बहुत धीरेसे रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न लग जाए। उन्हीं श्रीचरणोंसे तुम घोर जंगलमें भटक रहे हो। क्या कंकड़, पत्थर आदिकी चोट लगनेसे उनमें पीड़ा नहीं होती। हमें तो इसकी सम्भावनामात्रसे ही चक्कर आ रहा है। हम अचेत होती जा रही हैं। श्रीकृष्ण! श्यामसुन्दर! प्राणनाथ! हमारा जीवन तुम्हारे लिए ही है, हम तुम्हारे लिए जी रही हैं, हम तुम्हारी हैं।

श्रील जीवगोस्वामीपाद कहते हैं कि इतना कहनेके पश्चात् उच्च स्वरसे रोते-रोते व्रजगोपियाँ बेसुध होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। इस प्रकार गोपियाँ उनकी किञ्चित्मात्र पीड़ाके स्मरणमात्रसे ही अपनी चेतना खो दिया करती थीं। जब उनके मध्य श्रीकृष्ण प्रकट हुए, तब कोटि-कोटि-काम-विनिन्दित मनोहर अपने प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दरको देखकर उन व्रजरमणियोंके शरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो उठा। वे सब एक साथ प्रेमयुक्त प्रफुल्लित नेत्रोंसे आनन्दोद्रेकमें उठ खड़ी हुई ॥२१८॥

सेई गोपीभावामृते याँर लोभ हय।
वेदधर्म त्यजि' से कृष्णके भजय ॥२१९॥
रागानुग-मार्गे तारै भजे येइ जन।
सेइ जन पाय व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ॥२२०॥

व्रजलोकेर कोन भाव लजा येइ भजे।

भावयोग्य देह पाजा कृष्ण पाय व्रजे ॥२२१॥

ताहाते दृष्टान्त—उपनिषद् श्रुतिगण।

रागमार्गे भजि' पाइल व्रजेन्द्रनन्दन ॥२२२॥

जिन्हें पूर्व कथित गोपीभावामृत प्राप्त करनेके लिए लोभ होता है, वे वर्णाश्रम आदि वेद-धर्म तथा स्वर्गलोक आदि लोक-धर्मका सम्पूर्ण रूपसे परित्यागकर श्रीकृष्णका ऐकान्तिक रूपसे भजन करते हैं। जिन भक्तोंकी रागानुगाभक्तिमार्गमें प्रवृत्ति होती है, वे आनुगत्य भावसे श्रीकृष्णका भजन करते हैं और श्रीवृन्दावनधाममें उन्हें श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है। जो व्रजमण्डलके परिकरोंके किसी एक भावको लेकर भजन करते हैं, वे भाव योग्य सिद्धदेहकी प्राप्ति करके व्रजमें श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त करते हैं। इस सन्दर्भमें उपनिषद् एवं श्रुतियोंका दृष्टान्त दिया जा सकता है, जिन्होंने रागमार्गमें भजन करके श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा प्राप्त की थी।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि भजनके चौसठ अङ्ग हैं, उनका पालन वैधीभक्तिमें विशेष रूपसे किया जाता है। विमल एवं विशुद्ध श्रद्धाके साथ भक्तिके इन अङ्गोंका पालन करनेसे भक्तिमें अधिकार प्राप्त होता है। परन्तु व्रजवासियोंका श्रीकृष्णके प्रति जो स्वाभाविक अनुराग होता है, उससे युक्त उनकी अनुरागमयी सेवा देखकर, किसी-किसी सौभाग्यवानके हृदयमें यह लोभ जाग्रत होता है कि “मैं भी इनके जैसी श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवा प्राप्त कर सकूँ” और अपने अभीष्टकी प्राप्तिके लिए चेष्टापरायण हो जाता है—यही रागानुगाभक्तिका मार्ग है। गोपी-भावामृतके प्रति लोभ ही रागानुगाभक्तिके मार्गमें प्रवेश करनेका अधिकार प्रदान करता है। रागानुगाभक्तिके मार्गमें प्रवेशकर भजन करनेसे वर्णाश्रमादि वैदिक धर्मोंके प्रति आसक्ति स्वतः ही सहज रूपसे दूर हो जाती है।

व्रजलोकमें रक्तक-पत्रकादि कृष्णके दास, श्रीदाम-सुबलादि कृष्ण-सखा, नन्द-यशोदा आदि श्रीकृष्णके माता-पिता ये लोग अपने-अपने रसके भावोंके अनुसार श्रीकृष्णका भजन अर्थात् सेवा करते हैं—इस

व्रजरसभजनमें लोभ होनेपर भी किसी एक विशेष रसके प्रति ही लोभ होता है। उसी लोभके उपयुक्त भावयोग्य चित्स्वरूप—सिद्धदेह प्राप्तकर सिद्धिकालमें श्रीकृष्णको प्राप्त करते हैं। उपनिषद् या श्रुतियाँ इसके प्रमाण हैं। श्रुतियोंने विचार किया कि व्रजगोपियोंका आनुगत्य किए बिना व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका भजन करनेका अधिकार नहीं हो सकता, तब उन्होंने व्रजगोपियोंका आनुगत्य ग्रहणकर रागमार्गमें गोपीदेह—अपने सिद्धदेहसे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णका भजन किया था।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि व्रजरस-रसिक सन्तोंका पदाश्रयकर, उनसे ही शिक्षा-दीक्षा ग्रहणकर उनके आनुगत्यमें व्रजमें वासकर रागानुगाके मार्गसे भजन करें, श्रीकृष्णके नित्यसिद्ध परिकरोंमेंसे किसी एकका आनुगत्य करें। सिद्ध रूपसे मानसी सेवा श्रीराधा-ललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी इत्यादि व्रजपरिकरोंके अनुसार करें तथा साधक रूपसे कायिकी सेवा श्रीरूपसनातनादि व्रजवासी भक्तोंके अनुसार करें।

नित्यसिद्ध परिकरोंमें ही रागात्मिकाभक्ति होती है, वह उनके हृदयोंमें नित्य विराजमान रहती है। अभिलषित वस्तुके प्रति स्वयंसिद्ध परमाविष्टता ही राग कहलाता है, जिनमें यह राग स्वतः रहता है, वे रागात्मिक जन कहलाते हैं।

श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।

तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥

(भ. र. सि. १/२/२७२)

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।

रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥

(भ. र. सि. १/२/२७०)

श्रुतियों द्वारा रागमार्गसे भजन करनेका प्रमाण—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्-
 मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
 स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्त-धियो
 वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः ॥२२३॥

(श्रीमद्भा. १०/८७/२३)

श्रुतियाँ प्रार्थना करती हैं—हे प्रभो! बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति अपने प्राण, मन और इन्द्रियोंको वशीभूतकर दृढ़ योगाभ्यासके द्वारा हृदयमें निर्विशेष ब्रह्मतत्त्वकी उपासना करते हैं तथा उससे उन लोगोंको जिस निर्वाण (मोक्ष) पदकी प्राप्ति होती है, उसकी प्राप्ति तो आपके उन शत्रुओंको भी अनायास ही हो जाती है, जो आपसे वैरभाव रखते हैं—सर्वदा आपके अनिष्टकी चिन्ता करते हैं। और सर्पराजकी भौँति सुगोल, सुठाम लम्बी तथा सुकुमार आपकी भुजाओंमें आसक्त श्रीराधिका आदि तुम्हारी नित्य कान्ताएँ तुम्हारे जिस चरण-सरोज-सुधाको साक्षात् रूपसे अपने वक्षस्थलपर धारण करती हैं, उनका आनुगत्य अवलम्बनकर हमने भी उन्हींकी भौँति उस चरण-सरोज-सुधाको प्राप्त किया है।

प्रस्तुत श्लोकमें 'अरयः' अर्थात् कंस आदि शत्रुगण भी तुम्हारी अनिष्ट चिन्तासे अथवा तुम्हारे भयसे सर्वदा तुम्हारा स्मरण करते हैं और उस स्मरणसे उनको वही मोक्षपद (ब्रह्म-सायुज्य गति) प्राप्त होता है, जो निर्विशेष-ब्रह्मकी युगों तक कष्टपूर्वक उपासनासे योगी और मुनियोंको प्राप्त होती है यह प्रथम आश्चर्यकी बात है। द्वितीयतः मुनिगण अपरिच्छिन्न रूपसे भगवान्का ध्यान करके जो प्राप्त करते हैं, उसे शत्रुगण परिच्छिन्न रूपमें भगवान्का स्मरण करके भी प्राप्त करते हैं; तृतीयतः मुनिगण श्रद्धा भक्तिपूर्वक भगवत्-बुद्धिसे उपासना करके, जो प्राप्त करते हैं, शत्रुलोग भगवान्को मनुष्यबुद्धिसे हिंसा-विद्वेष करके भी वही प्राप्त कर लेते हैं। और भी एक विशेष आश्चर्यका विषय यह है। "उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः"—अर्थात् सर्पराजके देहकी भौँति सुगोल, सुठाम, लम्बे, रमणीय श्रीकृष्णकी भुजाओंके प्रति आसक्त चित्तवाली, उन रमणीय भुजाओंके द्वारा आलिङ्गित गोपियाँ—उन

विभु श्रीकृष्णको परिच्छिन्न मानकर उन (श्रीकृष्ण) के सुकोमल श्रीचरणकमलोंको अपने वक्षस्थलपर धारणकर उन (श्रीकृष्ण) के काम-तप्त हृदयको सुशीतल करती हैं।

‘समा’—उन्हीं गोपियोंका अनुसरणकर हम (श्रुतियों) ने भी गोपीदेह प्राप्तकर श्रीकृष्णकी चरण-सुधाको प्राप्त किया है। यहाँ और भी एक बात विचारणीय है कि नित्यसिद्धा ब्रजगोपियाँ श्रीकृष्णको अपना उपपत्ति मानती हैं और उनके श्रीकृष्णस्वरूपको परिच्छिन्न मानती हैं; किन्तु श्रुतियाँ श्रीकृष्णको भगवत्-तत्त्वके रूपमें जानती हैं, अतः श्रीकृष्णके रूपको अपरिच्छिन्न मानती हैं। तो भी श्रुतियोंने स्तुति-स्तवन करके गोपीशरीरको प्राप्त कर लिया, जो अत्यन्त दुर्लभ था। ब्रजगोपियोंके आनुगत्यके कारण ही यह सम्भव हो सका। यहाँ यह भी विचारणीय है कि गोपियाँ श्रीकृष्णकी नित्य-प्रेयसियाँ हैं, उनका श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंको अपने वक्षस्थलपर धारण करना स्वाभाविक है, लेकिन श्रुतियाँ तो उनकी नित्य प्रेयसी नहीं हैं, राधाजीकी कायव्यूहरूपा भी नहीं हैं। तब भी उन्होंने श्रीकृष्णके चरणकमलोंको अपने वक्षस्थलपर धारण किया, जो कि नितान्त दुर्घट है। बृहद्वामनपुराणके अनुसार श्रुतियों (श्रुत्यभिमानिनी देवियों) ने बहुत समय तक भगवान्की स्तव-स्तुति की थी। उससे भगवान्ने प्रसन्न होकर उन्हें वर माँगनेके लिए कहा। तब उन्होंने यह वर माँगा कि हम लोग ब्रजगोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवा चाहती हैं। तब भगवान्ने कहा—देवियों! तुम्हारी यह अभिलाषा बड़ी दुर्घट है, फिर भी तुम्हारी अभिलाषा अवश्य ही पूर्ण होगी। भगवत्-कृपासे श्रुतिरूप देवियोंने यथा समयमें ब्रजमें गोपीरूपमें जन्म ग्रहणकर औपपत्य भावसे श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त की थी॥२२३॥

‘समदृशः’—शब्द कहे ‘सेइ भावे अनुगति’।

‘समाः’—शब्द कहे श्रुतिर गोपीदेह-प्राप्ति॥२२४॥

‘अङ्घ्रिपद्मसुधा’य कहे कृष्णसङ्गानन्द।

विधिमार्गे ना पाइये ब्रजे कृष्णचन्द्र॥२२५॥

आलोच्य श्लोकमें 'समदृशः' शब्दका तात्पर्य यह है—व्रजगोपियोंके आनुगत्यको ग्रहणकर उनके (औपपत्य) भावसे जो भजन करते हैं, वे ही समदृश-शब्दाच्च हैं। 'समाः' शब्दसे यह सूचित होता है कि भजनके द्वारा गोपियों जैसी देह और रूपकी प्राप्ति जिनकी, उन श्रुतियोंको ही गोपियोंकी 'समाः' कहा गया है। तथा 'अङ्घ्रि-पद्मसुधा' का तात्पर्य है—श्रीकृष्णके श्रीचरणोंका अमृत (मधु) अर्थात् श्रीकृष्णसङ्ग और श्रीकृष्णसेवाजनित आनन्द। श्रुतियोंने गोपियोंका आनुगत्य ग्रहणकर उन्हींके भावोंको लेकर भजन किया, तदनुसार व्रजमें गोपीदेह प्राप्त किया और गोपीदेहसे श्रीकृष्णका सङ्ग और श्रीकृष्णसेवाजनित आनन्द पाया था। किन्तु विधिमार्गसे व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णको नहीं पाया जा सकता। उन्हें केवल श्रुतियोंके समान रागानुगामार्गसे भजन करनेवाले ही प्राप्त कर सकते हैं ॥२२४-२२५॥

इसका प्रमाण यह निम्नलिखित श्लोक है—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।

ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥२२६॥

(श्रीमद्भा. १०/९/२१)

श्रीशुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षितसे कह रहे हैं—यशोदानन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति भक्तोंके लिए जितनी सुलभ है, उतनी सुलभ अन्य किसीके लिए नहीं है—यहाँ तक कि देहाभिमानी तपस्वियोंको तथा आत्मदर्शी ज्ञानियोंको भी वैसी प्राप्ति नहीं होती।

गोपरानी माता यशोदाको जिस प्रकार सुख सुलभ है, जिस प्रकारका अनिर्वचनीय सुख उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण प्राप्त कराते हैं, वह केवल उनको अपना साधारण पुत्र माननेवाली तथा उनकी चपलता देखकर रस्सीसे बाँध देनेवाली माता श्रीयशोदाके पक्षमें ही सम्भव है—और किसीके लिए सम्भव नहीं है। देहाभिमानी पुरुषोंको तो बड़ी तपस्याके द्वारा भी सुखसे सुलभ नहीं होते। उस तपस्वीपर जब कोई परम भागवत कृपाकर देता है, तब वह अपने तपस्यादि अनुष्ठानोंको श्रीकृष्णके प्रति अर्पण करता है, तब कहीं उसे श्रीकृष्णकी किञ्चित् अनुभूति प्राप्त होती है।

जो आत्मभूत हैं अर्थात् जिनका देहाभिमान निवृत्त हो चुका है और जिनकी अद्वैत आत्मवृत्ति है, उन्हें भी भक्तकृपा सङ्गसे निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें श्रीकृष्णस्वरूपका किञ्चित् अनुभव होता है। तपस्वी या ज्ञानियोंको श्रीकृष्णकी साक्षात् उपलब्धि अर्थात् सविशेष रूपमें प्राप्ति कभी नहीं होती। ब्रह्मा, शिव एवं स्वयं लक्ष्मी भी गोपियोंके आनुगत्यके बिना श्रीव्रजेन्द्रतनयकी सेवा नहीं कर सकते। इस प्रकार श्रीशुकदेव गोस्वामी यशोदाके कृष्णवश-कारिता-गुण-दर्शनमें परीक्षितके निकट व्रजललनागणोंके अप्राकृत सहज रागात्मिकाभक्तिके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं अयं (गोपिकासुतः यशोदानन्दनः) भगवान् इह यथाभक्तिमतां (रागमार्गेण भजनकारिणां) सुखापः (अनायासलभ्यः) देहिनां (देहाभिमानिनाम्) आत्मभूतानां (तपोवृत्त-पराणां जडविराग-युक्तात्मारामाणां) ज्ञानिनां च तथा न (सुखापः इति शेषः) ॥२२६॥

अतएव गोपीभाव करि' अङ्गीकार।

रात्रि-दिन चिन्ते राधाकृष्णोर विहार ॥२२७॥

सिद्धदेहे चिन्ति' करे ताहँजि सेवन।

सखीभावे पाय राधाकृष्णोर चरण ॥२२८॥

गोपी-आनुगत्य विना ऐश्वर्यज्ञाने।

भजिलेह नाहि पाय व्रजेन्द्रनन्दने ॥२२९॥

ताहाते दृष्टान्त-लक्ष्मी करिल भजन।

तथापि ना पाइल व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ॥२३०॥

रागानुगाके मार्गमें ही व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दनकी प्राप्ति होती है, विधिमार्गसे नहीं—ऐसा विचारकर गोपीभावका आनुगत्यकर दिन और रातके मध्य श्रीराधाकृष्ण जिस समय जो लीला करते हैं, उसी समय साधक उसी लीलाकी भावना करें तथा गुरु-प्रदत्त अपने सिद्धदेहकी भावना कर, सखीभावसे, उसी लीलास्थलीपर श्रीराधाकृष्ण युगलकी मानसी सेवा करें। इस सखीभावसे ही श्रीराधाकृष्णकी सेवा प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। गोपियोंके आनुगत्यके बिना, ऐश्वर्यज्ञानसे युक्त होकर भजन करनेपर भी श्रीराधाकृष्णकी प्रेममयी सेवा प्राप्त

नहीं हो सकती। ऐश्वर्यमयी लक्ष्मीजी गोपियोंके आनुगत्यके बिना कठोर तपस्या और उपासना द्वारा भी ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी गोपियों जैसी प्रेममयी सेवा प्राप्त नहीं कर सकीं।

ब्रजरसरसिक श्रीगुरुदेव द्वारा प्रदत्त मन्त्र, भाव अर्थात् एकादश भाव और पञ्चदशाको प्राप्तकर स्वकीय सम्बन्धानुसार दिन-रात श्रीराधाकृष्णकी अष्टकालीन लीलामें तन्मय हो जाए। भजन करते समय सिद्धदेह—‘सेवापरायणा दासी रूप’ का चिन्तन करे और उसी देहको आत्मसात्कर श्रीराधापाल्यदासी मञ्जरी रूपसे श्रीराधाकृष्णकी मानसिक सेवा करे, जैसा हमारे गोस्वामीवर्ग गुरुपरम्पराके अनुसार करते आए हैं। बाह्य रूपसे तो संख्यापूर्वक नाम, गान, नमस्कार इत्यादि भक्तिके अङ्गोंका पालन करे, परन्तु आन्तरिक रूपसे मानसी सिद्धदेहसे श्रीराधाकृष्णकी अष्टकालीन लीलामें तन्मय रहे—तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। गोपीभावका आनुगत्य किया नहीं और ऐश्वर्यज्ञान बुद्धिपरायण होकर “श्रीकृष्ण स्वयंभगवान् सर्वेश्वर, अखिल ब्रह्माण्ड नायक हैं और मैं अतिशय क्षुद्र जीव हूँ” ऐसा समझकर भजन करनेसे श्रीब्रजेन्द्रनन्दनको कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता। सर्वाराध्या श्रीलक्ष्मीदेवी भी ब्रजवासियोंकी सेवामें, ब्रजवासियोंमें भी श्रीगोपियोंकी सेवासे आकृष्ट होकर श्रीब्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा हेतु आई, परन्तु ऐश्वर्य ज्ञान होनेके कारण ब्रजगोपियोंका आनुगत्य न कर पानेसे वे आज भी वञ्चित हैं।

‘सिद्धदेह’ के सम्बन्धमें श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ‘प्रभुपाद’ श्रीचैतन्यचरितामृतके अनुभाष्यमें कहते हैं कि वर्तमान जड़देह और सूक्ष्मदेहके अतिरिक्त चिन्मय श्रीराधाकृष्णके सेवनोपयोगी देहको सिद्धदेह कहते हैं। जैसे जड़ कर्मफलसे जीवको जड़देह प्राप्त होती है और पुनः समयानुसार वह देह परिवर्तित होकर स्थूल भोगवासनाओंके कारण पुनः जड़देहकी ही प्राप्ति होती है। जैसे सूक्ष्म जड़भोग-वासनासे जीव मानस-लिङ्गदेह परिग्रहण करता है और मनके द्वारा जड़ विषय भोगकर पुनः वैसा ही परिवर्तित सूक्ष्मदेह प्राप्त करता है। उसी प्रकार शुद्ध जीवात्मा काम-भोगवासनाके प्रभावसे जड़भोग्य देवीधाममें जन्म ग्रहणकर काल-क्षुब्ध स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों देहोंको परिग्रहण करनेके

बदले चिन्मय गोलोक अथवा वैकुण्ठधाममें नित्यकाल चिन्मय देह प्राप्त करती है और उस चिन्मय सिद्धदेहके द्वारा कृष्णसुखतात्पर्य विशिष्ट होकर श्रीराधाकृष्णकी अप्राकृत सेवा करती है। जड़ातीत अथवा निज-भोगातीत वस्तुका चिन्तन जड़ अथवा सूक्ष्मदेह द्वारा असम्भव है। अतएव त्रिगुणातीत भक्त अप्राकृत श्रीकृष्णके गुणोंसे आकृष्ट होकर तदुपयोगी निज-सिद्धदेह-स्थित अप्राकृत-इन्द्रियोंकी सहायतासे अप्राकृत वस्तुकी चिन्ताकर अप्राकृत सेवा करते-करते अप्राकृत सखीके भावानुगत अप्राकृत श्रीराधाकृष्णके चरणोंकी सेवा प्राप्त करते हैं ॥२२७-२३०॥

ब्रजगोपियोंके आनुगत्यके बिना ऐश्वर्यबुद्धिसे भजन करनेपर भी ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त नहीं होती, इसका प्रमाण निम्नलिखित है—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः

सयौषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ—

लब्धाशिषां य उद्गाद्ब्रजसुन्दरीणाम् ॥२३१॥

(श्रीमद्भा. १०/४७/६०)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने रासोत्सवके समय इन ब्रजाङ्गनाओंके गलेमें बाँह डाल-डालकर इनके मनोरथ पूर्ण किए। इन्हें भगवान्ने जिस कृपा-प्रसादका वितरण किया, इन्हें जैसा प्रेमदान किया, वैसा भगवान्की परमप्रेमवती नित्यसङ्गिनी वक्षस्थलपर विराजमान लक्ष्मीजीको भी नहीं प्राप्त हुआ। कमलकी-सी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त देवाङ्गनाओंको भी नहीं मिला। फिर दूसरी स्त्रियोंकी तो बात ही क्या करें?

ब्रजगोपियोंकी उक्त अधिरूढ़ भावके कारण सर्वत्र प्रशंसा है, किन्तु वैकुण्ठनाथ-वक्षविलासिनी श्रीलक्ष्मीके सौभाग्यका ऐसा उत्कर्ष कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे सर्वावतारमूल होते हुए भी श्रीकृष्ण—गोचारण, बन्दरों—गोपबालकोंके साथ भोजन, दही-माखन-चोरी, चीरहरण, परदाराभिमर्षण आदि लोकदृष्टिमें निन्दित आचरण करते

हुए भी सर्वत्र स्तुत्य तथा सर्वोत्कर्षकी चरमसीमाको प्राप्त हैं, उसी प्रकार भगवत्-स्वरूपभूता ह्लादिनीशक्तिशिरोमणि होकर भी ब्रजगोपियाँ, वनचारी-ग्वारिन तथा लोक-विख्यात व्यभिचारादि निन्दापरक शब्दोंको अङ्गभूषण करके भी श्रीलक्ष्मी आदि समस्त भगवत्-कान्ताओंसे परम चरमतम सौभाग्य उत्कर्षकी सीमाको प्राप्त हैं। यही कारण है कि श्रीनारायणके वक्षस्थलपर रहते हुए एवं एकान्त रमण रूपमें उन्हें प्राप्त करके श्रीलक्ष्मीजीने ब्रजगोपियों जैसा सौभाग्य प्रसाद प्राप्त नहीं किया। जब लक्ष्मीजी उस प्रसादको प्राप्त नहीं कर पाई, तो कमलके समान गन्ध तथा कान्तिशालिनी होकर, सौन्दर्य-सौभाग्यको प्राप्त करनेवाली उपेन्द्र आदि अवतारोंकी पत्नियोंकी तो बात ही क्या है? रासोत्सवमें ब्रजगोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा भुजाओंमें आलिङ्गित होकर परम चरमतम सौभाग्य उत्कर्ष प्रसादको प्राप्त किया है ॥२३१॥

एत शुनि' प्रभु तारै कैल आलिङ्गन।

दुइ जने गलागलि करेन क्रन्दन ॥२३२॥

एइमत प्रेमावेशे रात्रि गाँवाइला।

प्रातःकाले निज-निज कार्य दुँहे गेला ॥२३३॥

विदाय समये प्रभुर चरणे धरिया।

रामानन्द राय कहे विनति करिया ॥२३४॥

“मोरे कृपा करिते तोमार ईँहा आगमन।

दिन दश रहि' शोध मोर दुष्ट मन ॥२३५॥

तोमा बिना अन्य नाहि जीव उद्धारिते।

तोमा बिना अन्य नाहि कृष्णप्रेम दिते ॥२३६॥

प्रभु कहे,—“आइलाड शुनि' तोमार गुण।

कृष्ण कथा शुनि, शुद्ध कराइते मन ॥२३७॥

जैछे शुनिलुँ, तैछे देखिलुँ तोमार महिमा।

राधाकृष्ण-प्रेमरस-ज्ञानेर तुमि सीमा ॥२३८॥

दश दिनेर का-कथा, यावत् आमि जीव।
 तावत् तोमार सङ्ग छाड़िते नारिब ॥२३९॥
 नीलाचले तुमि-आमि थाकिब एकसङ्गे।
 सुखे गोंवाइब काल कृष्णकथा-रङ्गे ॥२४०॥
 एत बलि' दुँहे निज-निज कार्ये गेला।
 सन्ध्याकाले राय पुनः आसिया मिलिला ॥२४१॥
 अन्योन्ये मिलि' दुँहे निभृते वसिया।
 प्रश्नोत्तर-गोष्ठी कहे आनन्दित हजा ॥२४२॥
 प्रभु पूछे, रामानन्द करेन उत्तर।
 एइमत सेई रात्रे कथा परस्पर ॥२४३॥

इस प्रकार श्रीराय रामानन्द द्वारा कथित अपूर्व रससिद्धान्तको सुनकर श्रीमन्महाप्रभु बड़े आनन्दित हुए और रामानन्दजीका आलिङ्गन किया। दोनों ही एक दूसरेके गले लगकर रोदन करने लगे। इसी प्रकार प्रेमाविष्ट होकर वार्त्तालाप करते-करते सम्पूर्ण रात्रि अतिवाहित हो गई। प्रातःकाल होते ही दोनों अपने कार्योंके लिए चले गए। विदाके समय श्रीमन् रामानन्द महाप्रभुजीके श्रीचरणोंको पकड़कर अति विनीत भावसे श्रीमन्महाप्रभुसे कहने लगे—हे प्रभो! यहाँ आपका आगमन मुझपर कृपा करनेके लिए ही हुआ है। अतः दस दिन और रहकर मेरे कलुषित मनका परिशोधन कीजिए। आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी इस जीवका उद्धार नहीं कर सकता और न ही कृष्णप्रेम प्रदान कर सकता है।

रायजीकी प्रीति भरी दैन्यपूर्ण बात सुनकर श्रीमन्महाप्रभु बोले—मैं तो श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यके मुखसे आपके गुणोंको सुनकर आपसे कृष्णकथा सुनकर अपने मनको शोधन करनेके लिए आया था। मैंने जैसा सुना था, तुम्हारी महिमाको वैसा ही देखा। श्रीराधातत्त्व, श्रीकृष्णतत्त्व, श्रीप्रेमतत्त्व एवं श्रीरसतत्त्वके ज्ञानकी आप ही परावधि हैं। दस दिनोंकी तो बात ही क्या? जीवन भर मैं आपका साथ छोड़ नहीं सकता। मैं और आप एक साथ ही जगन्नाथ पुरीमें रहेंगे और

सुखपूर्वक कृष्णकथाके रङ्गसे अनुरञ्जित हो अपना समय व्यतीत करेंगे। ऐसा कहकर दोनों ही अपने-अपने कार्योंके लिए चले गए। सन्ध्या होनेपर श्रीराय पुनः श्रीमन्महाप्रभुसे आकर मिले। एक दूसरेसे मिलकर दोनों निर्जन स्थानपर बैठकर अति आनन्दके साथ परस्पर प्रश्नोत्तर गोष्ठीमें संलग्न हो गये। श्रीमन्महाप्रभुजी प्रश्न करते और श्रीमन् रायरामानन्द उत्तर देते। इस प्रकार उन्होंने परस्पर कथा कहते-सुनते सारी रात बिता दी।

रोदनसे तात्पर्य यह है कि दोनों ही सात्त्विकभावोंमें सराबोर हो गए जिससे उनका कण्ठ रुद्ध हो गया और उनका वार्त्तालाप प्रेमसे ओतप्रोत होनेके कारण दोनों रोते रहे। गोष्ठीका अर्थ है—परस्पर संलाप ॥२३२-२४३॥

प्रभु कहे,—“कोन विद्या विद्या—मध्ये सार?”

राय कहे,—“कृष्णभक्ति—बिना विद्या नाहि आर ॥” २४४ ॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—समस्त विद्याओंमें कौन-सी विद्या श्रेष्ठ है, श्रीमन् रायने कहा—श्रीकृष्ण भक्ति ही सभी विद्याओंका सार है, इसके अतिरिक्त और कोई विद्या है ही नहीं।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि प्रथम पंक्तिमें महाप्रभु प्रश्न पूछ रहे हैं और द्वितीय पंक्तिमें रामानन्द उत्तर दे रहे हैं। महाप्रभुजीने पूछा, “कौन-सी विद्या सर्वोत्तम है?” रायने कहा—“कृष्णभक्तिके अतिरिक्त और कोई विद्या नहीं है।” इसका तात्पर्य यह है कि जीव श्रीकृष्णका नित्य दास है, परन्तु श्रीकृष्णकी बहिरङ्गाशक्तिके कारण अपने स्वरूपको भूलकर इस स्थूलदेहको ही अपना नित्य परिचय मानता है। इस अवस्थामें पुनः अपने शुद्धस्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर कृष्णदासत्त्व उपलब्धि करने हेतु साधनके रूपमें एक ही विद्या है—श्रीकृष्णभक्ति। इसी विद्यासे क्रमशः जीवतत्त्व, मायातत्त्व, भगवत्-तत्त्व आदि तत्त्वोंको जाना जा सकता है। अजित श्रीकृष्ण शुद्धभक्तिसे ही भक्तके पराधीन हो जाते हैं। सर्वोपरि विद्या श्रीकृष्णभक्तिस्वरूपा है, जड़भोगको देनेवाली जड़विद्या और जड़ातीत ब्रह्मविद्याकी अपेक्षा विष्णुभक्तिविद्या श्रेष्ठ है और उससे भी उन्नत कृष्णभक्तिविद्या है।

श्रीमद्भागवतमें इसी सिद्धान्तको पुनः-पुनः पुष्ट किया है। यथा—“तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया” (श्रीमद्भा. ४/२९/५०) अर्थात् वास्तवमें कर्म वही है, जिससे हरिको प्रसन्न किया जा सके और विद्या भी वही है जिससे भगवान्में चित्त लगा रहे, इसी प्रकारसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
 अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
 इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नव लक्षणा।
 क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥

(श्रीमद्भा. ७/५/२३-२४)

प्रह्लाद महाराज कह रहे हैं—भगवान् विष्णुकी भक्तिके नौ अङ्ग हैं—भगवान्के गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उनके रूप, नाम आदिका स्मरण, उनके श्रीचरणोंकी सेवा, पूजा-अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन। यदि भगवान्के प्रति समर्पित भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाए तो मैं उसीको उत्तम रूपसे शास्त्रोंका अध्ययन समझता हूँ। उनका ही शास्त्रानुशीलन सार्थक है। इसी प्रकारसे—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
 स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
 अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
 यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

(श्रीमद्भा. १/५/२२)

उत्तम-उत्तम श्लोकोंमें श्रीकृष्णका जो गुणानुवर्णन है, उसे ही पण्डितोंने सर्वश्रेष्ठ विद्याध्ययन माना है। प्रस्तुत पयारोंके माध्यमसे जड़ वस्तु एवं अप्राकृत वस्तुके विचार-तारतम्यसे जड़विचारोंकी हेयता एवं जड़स्वार्थरहित केवल कृष्ण-तात्पर्य-विशिष्ट अप्राकृत गोलोककी वस्तु अथवा विषयकी श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है ॥२४४॥

कीर्तिगण-मध्ये जीवेर कोन् बड़ कीर्ति?

‘कृष्णभक्त बलिया याँहार हय ख्याति ॥२४५॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—कीर्तियोंके मध्यमें जीवकी प्रधान कीर्ति क्या है? रायने कहा—श्रीकृष्णका भक्त कहलाना ही जीवकी सबसे बड़ी कीर्ति है।

प्राकृत जगतमें जीवोंकी बहुत बड़ी-बड़ी कीर्तियाँ होती हैं, जैसे कोई धनवान, गुणवान, बुद्धिमान या प्रतिष्ठावान इत्यादिके रूपमें ख्याति प्राप्त करता है। परन्तु इन सब कीर्तियोंका सम्बन्ध भौतिक शरीरसे होता है। शरीर नष्ट हो जानेपर ये सब कीर्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं। अतः श्रीकृष्णका प्रेमी भक्त बनना ही सबसे बड़ा यश है; क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध आत्मासे है। आत्मा नित्य, शाश्वत एवं सच्चिदानन्द है। उसका जैसे कभी विनाश नहीं होता, वैसे ही श्रीकृष्णके भक्तोंका भी कभी विनाश नहीं होता; प्रत्युत श्रीकृष्णभक्त तो एक ऐसी नौका बन जाते हैं, जिसके सहारे न जाने कितने प्राणी तर जाते हैं। श्रीकृष्णभक्त ही अपने आराध्यदेवकी सेवाके योग्य बनता है। वह अपने इष्टदेवकी सेवाकर सदाके लिए शोक, मोह रागादिसे दूर हो जाता है।

“विद्यात्मनि भिदाबाधः” (श्रीमद्भा. ११/१९/४०)—श्रीकृष्णभक्त रूपमें ख्याति होना सबसे बड़ी कीर्ति है। जड़विषय-लोलुपताके कारण जीव जड़के स्थूल सेवनको ही सर्वश्रेष्ठ ख्याति मानता है। देवीधाममें सर्वश्रेष्ठ कीर्ति प्राप्त करने अथवा जड़तीत राज्यमें ‘ब्रह्मज्ञ’ रूपसे ख्याति अर्जित करनेकी अपेक्षा विष्णुभक्तके रूपमें प्रख्यात होना ही सर्वश्रेष्ठ है। विष्णुभक्तसे भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रीकृष्णभक्तके रूपमें विख्यात होना। गरुड़पुराणमें शक्रोक्ति (इन्द्र) है—

कलौ भागवतं नाम दुर्लभं नैव लभ्यते।

ब्रह्मरुद्रपदोत्कृष्टं गुरुणा कथितं मम॥

कलियुगमें भागवत अर्थात् उत्तम भक्त पदवी बड़ी ही दुर्लभ है; ब्रह्मा और रुद्रकी पदवीसे भी भागवत पदवी श्रेष्ठ है।

इतिहास-सम्मुच्चयमें श्रीनारद-पुण्डरीक-संवादमें वर्णित है—

जन्मान्तर सहस्रेषु यस्य स्याद् बुद्धिरीदृशी।

दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वान् लोकान् समुद्धरेत्॥

मैं भगवान् वासुदेवका दास हूँ—सहस्र-सहस्र जन्मोंके पश्चात् भी जिनकी ऐसी बुद्धि हो गई है, वह सम्पूर्ण विश्वका उद्धार कर सकता है।

आदिपुराणमें कृष्णार्जुन-संवादमें कथित है—“भक्तानामनुगच्छन्ति मुक्तयः श्रुतिभिः सह”, अर्थात् मुक्त पुरुष श्रुतियोंके साथ भक्तोंका अनुगमन करते हैं।

बृहन्नारदीयपुराणमें निर्दिशित है—

अद्यापि च मुनिश्रेष्ठा ब्रह्माद्या अपि देवताः।

प्रभावं न विजानन्ति विष्णु-भक्तिरतात्मनाम्॥

श्रेष्ठ मुनिजन और ब्रह्मा आदि देवता भी आज तक विष्णुभक्तिमें निरत रहनेवाले भक्तोंकी महिमा पूर्ण रूपसे नहीं जानते।

गरुड़पुराणमें—

ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यः सत्रयाजी विशिष्यते।

सत्रयाजिसहस्रेभ्यः सर्ववेदान्तपारगः।

सर्ववेदान्तवित्कोट्या विष्णुभक्तो विशिष्यते।

वैष्णवानां सहस्रेभ्यः ऐकान्त्येको विशिष्यते।

एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम्॥

हजारों ब्राह्मणोंसे एक सावित्र्य ब्राह्मण श्रेष्ठ है, सहस्र सावित्र्य ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक वेदान्तविद् ब्राह्मण श्रेष्ठ है, कोटि-कोटि वेदान्तविद् ब्राह्मणोंकी अपेक्षा एक विष्णुभक्त श्रेष्ठ है, सैंकड़ों विष्णुभक्तोंसे ऐकान्तिक वैष्णव श्रेष्ठ है। ऐकान्तिक वैष्णव ही परम पदको प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवतमें—

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।

तत्तद् गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥

(श्रीमद्भा. ३/१३/४)

हे मुने! जिनके हृदयमें श्रीमुकुन्दके चरणारविन्द विराजमान हैं, उन भक्तजनोंके गुणोंको श्रवण करना ही मनुष्योंके बहुत दिनों तक

किए हुए शास्त्राभ्यासके श्रमका मुख्य फल है, ऐसा विद्वानोंका मत है।

श्रीनारायणव्यूहस्तवमें—

नाहं ब्रह्मापि भूयासं तद्भक्ति रहितो हरे।
त्वयि भक्तस्तु कीटोऽपि भूयांसं जन्मजन्मसु॥

भगवद्भक्तिसे रहित ब्रह्माका जन्म मैं नहीं चाहता तुम्हारे भक्तोंके सङ्ग प्राप्तिके लिए मैं जन्म-जन्मान्तरोंमें भी कीट जन्मकी प्रार्थना करता हूँ।

श्रीमद्भागवत (४/२४/२९) में—

स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्
विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं
पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये॥

श्रीमहादेवजी श्रीमैत्रेयजीसे कहते हैं—अपने वर्णाश्रमधर्मका भलीभाँति पालन करनेवाला पुरुष सौ जन्मके बाद ब्रह्माके पदको प्राप्त करता है और इससे भी अधिक पुण्य होनेपर वह मुझे प्राप्त करता है। परन्तु जो भगवान्का अनन्य भक्त है, वह तो मृत्युके बाद ही सीधे भगवान् विष्णुके उस सर्वप्रपञ्चातीत परमपदको प्राप्त हो जाता है, जिसे रुद्ररूपमें स्थित मैं तथा अन्य आधिकारिक देवता अपने-अपने अधिकारकी समाप्तिके बाद ही प्राप्त करेंगे।

श्रियमनुचरतीं तदर्थिनश्च
द्विपदपतीन् विबुधांश्च यत्स्वपूर्णः।
न भजति निजभृत्यवर्गतन्त्रः
कथममुमुद्विसृजेत्पुमान् कृतज्ञः॥

(श्रीमद्भा. ४/३१/२२)

भगवान् स्वरूपानन्दसे ही परिपूर्ण हैं, उन्हें निरन्तर अपनी सेवामें रहनेवाली लक्ष्मीजी तथा उनकी इच्छा करनेवाले नरपति और देवताओंकी भी कोई परवा नहीं है। इतने होनेपर भी वे अपने

भक्तोंके तो अधीन ही रहते हैं। अहो! ऐसे करुणासागर श्रीहरिको कोई भी कृतज्ञ पुरुष थोड़ी देरके लिए भी कैसे छोड़ सकता है? ब्रह्माजीका वाक्य—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा. १०/१४/३०)

इसलिए हे भगवन्! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदिके जन्ममें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर आपके चरणकमलोंकी सेवा करूँ।

उन भक्तोंमें भी प्रह्लादकी श्रेष्ठताके सम्बन्धमें श्रीरुद्रके वचन हैं—

भक्त एव हि तत्त्वेन कृष्णं जानाति न त्वहम्।
सर्वेषु हरिभक्तेषु प्रह्लादोऽतिमहत्तमः॥

(स्कन्दपुराण)

और भी—

क्वाहं रजः प्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्,
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया,
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः॥

(श्रीमद्भा. ७/९/२६)

प्रह्लादजी कह रहे हैं—हे प्रभो! कहाँ तो इस तमोगुणी असुरवंशमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ मैं और कहाँ आपकी अनन्त कृपा। धन्य हैं! आपने अपना परम प्रसादस्वरूप और सकलसन्तापहारी वह करकमल मेरे सिरपर रखा है, जिसे आपने ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीजीके सिरपर भी कभी नहीं रखा।

भवन्ति पुरुषा लोके मदभक्तास्त्वामनुव्रताः।
भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्॥

(श्रीमद्भा. ७/१०/२१)

भगवान् श्रीनृसिंहदेव कह रहे हैं—वत्स प्रह्लाद! संसारमें जो लोग तुम्हारे अनुयायी होंगे, वे भी मेरे भक्त हो जाएँगे। तुम मेरे सभी भक्तोंके आदर्श हो।

भक्त प्रह्लादकी अपेक्षा भी पाण्डवगण अति श्रेष्ठ हैं—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य-
कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
आत्मारहनीयो विधिकृद् गुरुश्च॥

(श्रीमद्भा. ७/१०/४८-४९)

देवर्षि नारद बोले—युधिष्ठिर! इस मनुष्यलोकमें तुम लोगोंका भाग्य अति प्रशंसनीय है, क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यका रूप धारण करके गुप्त रूपमें निवास करते हैं। इसीसे सारे संसारको पवित्रकर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिए चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं।

बड़े-बड़े महापुरुष जिनको निरन्तर ढूँढ़ा करते हैं, जो मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानुभवस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हैं—वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूज्य, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं।

पाण्डवोंकी अपेक्षा यादवोंका श्रेष्ठत्व—

अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह।
यत् पश्यथासकृत् कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम्॥

(श्रीमद्भा. १०/८२/२९)

सूर्यग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें समागत नरपतियोंने कहा—भोजराज उग्रसेनजी! सच पूछिए तो इस जगतके मनुष्योंमें आप लोगोंका जीवन ही सफल है, धन्य है! धन्य है! क्योंकि जिन श्रीकृष्णका दर्शन बड़े-बड़े योगियोंके लिए भी दुर्लभ है, उन्हींको आप लोग नित्य-निरन्तर देखते रहते हैं।

तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-

शय्यासनाशनसयौनसपिण्डबन्धः ।

येषां गृहे निरयवर्त्मनि वर्ततां वः

स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः॥

(श्रीमद्भा. १०/८२/३०)

उग्रसेनजी! आप लोगोंका श्रीकृष्णके साथ वैवाहिक एवं गोत्र-सम्बन्ध है। यही नहीं, आप लोग हर समय उनका दर्शन एवं स्पर्श प्राप्त करते रहते हैं, उनके साथ चलते हैं, बोलते हैं, सोते हैं, बैठते हैं और खाते-पीते हैं। यों तो आप लोग गृहस्थीके झंझटोंमें फँसे रहते हैं—जो नरकका मार्ग है, परन्तु आप लोगोंके घर वे सर्व-व्यापक विष्णु भगवान् मूर्तिमान रूपसे निवास करते हैं, जिनके दर्शनमात्रसे स्वर्ग एवं मोक्षकी अभिलाषा मिट जाती है।

इन यदुगणोंकी अपेक्षा उद्धव श्रेष्ठ हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।

न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा. ११/१४/१५)

उद्धव! मुझे प्रेमीभक्त तुम जितने प्रिय हो, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, शङ्कर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी और मेरी अपनी आत्मा भी नहीं है। इसी प्रकारसे “त्वम् तु भागवतेष्वहम्” (श्रीमद्भा. ११/१६/२९) मेरे प्रेमी भक्तोंमें हे उद्धव! तुम मैं ही हूँ, तथा “नोद्धवोऽण्वपि मन्थूनो” (श्रीमद्भा. ३/४/३१) अर्थात् उद्धव मुझसे अणुमात्र भी कम नहीं है।

श्रीउद्धवजीकी भी अपेक्षा ब्रजदेवियाँ श्रेष्ठ हैं। उद्धवजी स्वयं कहते हैं—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रुढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मनुयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्त कथारसस्य ॥

(श्रीमद्भा. १०/४७/५८)

इस पृथ्वीपर केवल इन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है, क्योंकि वे सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रेममय दिव्य महाभावमें स्थित हैं। प्रेमकी यह ऊँची-से-ऊँची स्थिति संसारके भयसे भीत मुमुक्षुजनोंके लिए ही नहीं, अपितु बड़े-बड़े मुनियों, मुक्त-पुरुषों तथा हम भक्तजनोंके लिए भी अभी वाञ्छनीय ही है। हमें इसकी प्राप्ति नहीं हो सकी। यदि भगवान्की कथाका रस नहीं मिला तो अनेक महाकल्पों तक बार-बार ब्रह्मा होनेसे ही क्या लाभ?

बृहद्वामनपुराणमें भृगु आदि ऋषियोंसे श्रीब्रह्माजी कहते हैं—

षष्टिवर्ष-सहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा।
नन्दगोपब्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ॥
तथापि न मया प्राप्तास्तासां वै पादरेणवः।
नाहं शिवश्च शेषश्च श्रीश्च ताभिः समाः क्वचित् ॥

श्रीनन्दगोपके ब्रजमें रहनेवाली गोपरमणियोंके श्रीचरणोंकी रज प्राप्त करनेके लिए मैंने साठ हजार वर्षोंकी कठोर तपस्या की थी, तथापि मैं उनकी चरणरेणुको प्राप्त नहीं कर सका। तुम लोग यह निश्चित रूपसे समझ लो कि मैं (ब्रह्मा) शङ्कर, शेष और लक्ष्मीजी उन ब्रजगोपियोंके समान नहीं हैं।

आदिपुराणमें श्रीभगवान् कहते हैं—

न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव।

न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम॥

हे पार्थ! जिस प्रकार ब्रजकी गोपियाँ मेरी प्रियतमा हैं, उस प्रकार ब्रह्मा, शङ्कर, लक्ष्मी तथा और की तो बात ही क्या, मेरी आत्मा भी उतनी प्रिय नहीं है।

इन ब्रजगोपियोंमें श्रीराधिकाजी सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीकृष्ण श्रीराधिकाके ही प्रियतम हैं। राधाभावद्युतिसुवलित श्रीगौराङ्गके अत्यन्त अन्तरङ्ग सेवकवर्य जो श्रील रूपगोस्वामीपादजीके एकान्त अनुगतजन हैं, वे ही 'रूपानुग' नामसे प्रसिद्ध हैं। चैतन्यचन्द्रामृतमें उनके सम्बन्धमें लिखा है—

आस्तां वैराग्यकोटिर्भवतु शम-दम-क्षान्ति-मैत्रादि-कोटि
स्तत्त्वानुध्यान-कोटिर्भवतु भवतु वा वैष्णवी-भक्तिकोटिः।
कोट्यंशोऽप्यस्य न स्यात्तदपि गुणगणो यः स्वतःसिद्ध
आस्ते श्रीमच्चैतन्यचन्द्र-प्रिय-चरण-नख-ज्योतिरामोदभाजाम्॥

प्रबल वैराग्य ही हो, शम-दम-क्षान्ति-मैत्रादि असंख्य गुण ही रहें, निरन्तर ब्रह्म-जीव ऐक्य ज्ञान हृदयको अधिकार करें या विष्णु विषयक करोड़ों भक्ति विद्यमान रहें, श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रिय भक्तोंकी चरण-नख ज्योति द्वारा आनन्द प्राप्त जनसमूहों (व्यक्तियों) की स्वभावसिद्ध जो गुणावली हैं, उनके करोड़ अंशके एक अंश भी अन्यत्र सम्भव नहीं अर्थात् असम्भव है॥२४५॥

सम्पत्तिर मध्ये जीवेर कोन् सम्पत्ति गणि?

‘राधाकृष्णे प्रेम याँर, सेइ बड़ धनी॥’२४६॥

श्रीमन्महाप्रभुजी पूछते हैं—सम्पत्तियोंके मध्यमें जीवकी सबसे बड़ी सम्पत्ति क्या है? श्रीरायने कहा—जिनके पास श्रीराधाकृष्णरूप प्रेमसम्पत्ति है, वही सर्वातिशयी धनी है।

जगतमें जीवोंके पास नाना प्रकारकी चल-अचल सम्पत्तियाँ हुआ करती हैं, किन्तु ये सभी भौतिक सम्पत्तियाँ नश्वरशील हैं, न तो

इनके समृद्ध होनेसे आज तक कोई सुखी हुआ है और न होगा। जीवोंकी तो बात ही क्या, इन्द्रका ऐश्वर्य और ब्रह्मलोक भी नश्वर हैं, स्थिर नहीं। किसी भी क्षण वे नष्ट हो सकते हैं। जिनके पास श्रीराधाकृष्णप्रेमरूपी सम्पत्ति है, वही सबसे प्रधान धनी है। ऐसे सर्वाधिक धनीके धनसे धन प्राप्ति हेतु स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण उसके पीछे-पीछे घूमते हैं। वस्तुतः ये ही यथार्थ प्रेमी अपने अमूल्य प्रेम धनसे दूसरोंको भी धनी बनाकर सदाके लिए सुखी सम्पन्न कर देते हैं।

जड़भोगपरायण, भोगवासना-परितर्पणकारी जीव लौकिक धनको ही प्राप्त करना सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य समझते हैं, किन्तु सम्पत्तियोंके तारतम्यके विषयमें सूक्ष्म अप्राकृत बुद्धिसे विचार किया जाए तो वस्तुतः राधाकृष्णप्रेमके तुल्य अन्य कोई सम्पत्ति है ही नहीं—

किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने।

तथापि तत्परा राजन्न हि वाञ्छन्ति किञ्चन॥

(श्रीमद्भा. १०/३९/२)

परीक्षित्! लक्ष्मीके आश्रय-स्थान भगवान् श्रीकृष्णके प्रसन्न होनेपर ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो प्राप्त नहीं हो सकती, फिर भी भगवान्‌के परम प्रेमी भक्तजन किसी भी वस्तुकी कामना नहीं करते॥२४६॥

दुःख मध्ये कोन् दुःख हय गुरुतर?

‘कृष्णभक्त-विरह विना दुःख नाहि देखि पर॥२४७॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—दुःखोंमें सबसे बड़ा दुःख कौन-सा है? श्रीरायने कहा—श्रीकृष्णके भक्तका बिछोह ही सबसे बड़ा दुःख है। इससे बढ़कर और कोई दुःख नहीं है।

जो भक्तिका सार जानते हैं, वे ही श्रीकृष्णके भक्तकी महिमा जान सकते हैं और उसके सङ्गके परम लाभको समझ सकते हैं, दूसरा नहीं। कहा गया है—

स्व-जीवनाधिकं प्रार्थ्यं श्रीविष्णुजनसङ्गतः ।
विच्छेदेन क्षणं चात्र न सुखांशं लभामहे ॥

(बृ. भा. ५/४४)

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (३/३०/६) में—

मामनाराध्य दुखार्तः कटुम्बासक्तमानसः ।
सत्सङ्गरहितो मर्त्यो वृद्धसेवापरिच्युतः ॥

‘मुक्त-मध्ये कोन् जीव मुक्त करि’ मानि ?’

‘कृष्णप्रेम याँर, सेइ मुक्त-शिरोमणि ॥२४८॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—मुक्त-गणोंके मध्यमें किस जीवको मुक्त मानना चाहिए। श्रीमान् रायने उत्तर दिया—जिनमें श्रीकृष्णप्रेम है, वे ही मुक्तशिरोमणि हैं।

मुक्तसे तात्पर्य है—संसारिक-बन्धनोंसे मुक्त जिन भाग्यवान् मुक्तोंमें कृष्णप्रेम विद्यमान रहता है—वे ही वस्तुतः मुक्तशिरोमणि हैं। राजा परीक्षित कहते हैं—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥

(श्रीमद्भा. ६/१४/५)

हे महामुने! करोड़ों सिद्ध एवं मुक्त-पुरुषोंमें भी वैसे शान्तचित्त महापुरुषका मिलना बहुत ही कठिन है, जो एकमात्र भगवान्‌के ही परायण हो। ये मुक्त-पुरुष कृष्णप्रेमी दिन-रात कृष्णप्रेम-सुधा-अमृतपानमें निरत रहते हैं और इस अनिर्वचनीय सुधाका—पीत्वा, पीत्वा पुनर्पित्वा छक-छककर पान किया करते हैं, शरीरकी भी सुधबुध नहीं रहती।

जाय प्रेम भयो मनमोहनसे,
वानै छोड़ दिया सबरो घर बारा।
भाव-विभोर रहे निशि-दिन
और नयन बहत अविरल धारा ॥

मस्त रहे, अलमस्त रहे,
बाके पीछे डोलत नन्दको लाला।
'सुन्दर' ऐसे भक्तके हित,
बौहे पसारत मदन गोपाला ॥

ऐसे कृष्णप्रेमीभक्त ही यथार्थतः मुक्त हैं ॥२४८॥

‘गान-मध्ये कोन् गान-जीवेर निज धर्म?’

‘राधाकृष्णोर प्रेमकेलि-येई गीतेर मर्म ॥’२४९॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—समस्त गानोंमें कौन-सा गान जीवका निज (स्वरूप) धर्म है? श्रीराय रामानन्दने कहा—श्रीराधाकृष्णकी प्रेमकेलि-लीलाओंका गान करना ही समस्त गीतोंका मर्म है।

स्वरूपधर्मके बिना कोई भी वस्तु अपना अस्तित्व नहीं बनाए रह सकती, बिना स्वरूपधर्मके जीवका जीवत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। श्रीमन्महाप्रभुने भी सारे प्रश्न जीवके लिए किए हैं, मनुष्य या मानव शब्दका प्रयोग नहीं किया है। महाप्रभुजीके द्वारा जीवके स्वरूपानुबन्धि कर्तव्योंकी जिज्ञासा की गई है। अतः जीवात्माका स्वरूपानुबन्धि धर्म है—श्रीराधाकृष्णकी प्रेमकेलिका संकीर्तन करना। श्रीराधाकृष्ण केलि-विलासमें प्रेमोल्लासके कारण जिस गानकी उत्पत्ति अन्तःकरणके स्रोतसे होती है—वही संकीर्तनात्मक गान ही गीतका मर्म है। भागवतीय वेणुगीत, गोपीगीत, भ्रमरगीत, युगलगीत सभी गान स्वरूपधर्म ही हैं। सामवेद भी स्तुति स्तव परक होनेसे गान स्वरूप ही है। जीव स्वरूपतः कृष्णदास है, अतः अपने इष्टकी लीलाओंका गान करना ही उसका निज धर्म है—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।

भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/३६)

भगवान् जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही अपने नरोचित रूपको प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्-परायण हो जाए। भगवत्-परायण जीव प्रेमोल्लासमें भगवान्की

लीलाओंका गान करने लगते हैं। मुनिप्रवर श्रीशुकदेव गोस्वामीजी कहते हैं कि जब श्रीकृष्ण गोचारण करनेके लिए वनमें जाते हैं, तब वे थकानको दूर करने हेतु किसी ग्वाल-सखाकी गोदको तकिया बनाकर शयन करते हैं। कोई ग्वाल उनका चरण-चापन करता है तो कोई धीरे-धीरे पंखा झलता है। पशु-पक्षी (जीव) आदि श्रीकृष्णको सुखपूर्वक शयन कराने हेतु श्रीराधाकृष्णकी प्रेमलीलाओंका गुणगान करते हैं॥२४९॥

‘श्रेयो-मध्ये कोन् श्रेयः जीवेर हय सार?’

‘कृष्णभक्त-सङ्ग बिना श्रेयः नाहि आर॥’२५०॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—श्रेयोंमेंसे कौन-सा श्रेय जीवोंके लिए सार है? श्रीमान् रायने उत्तर दिया—श्रीकृष्ण भक्तोंके सङ्गके समान और कोई श्रेय नहीं है।

श्रेयःका अर्थ मङ्गल है। कृष्णभक्तोंके सङ्गके प्रभावसे कृष्णप्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिए कृष्णभक्तोंका सङ्ग ही प्रधान श्रेय है। जीव अपने स्वरूपगत अर्थात् श्रीकृष्णदासत्वको विस्मृतकर मायाका दास बनकर मायाकी चक्कीमें पिसता, कुचलता अनेक दुःख भोगता रहता है; परन्तु अपनी अज्ञात सुकृतिसे जीव पुनः कृष्णभक्तका सङ्ग प्राप्तकर उन महाशयोंके सङ्गसे धीरे-धीरे जब अपनी बहिर्मुखताको जान लेता है, तब ऐन्द्रिय सुखोंका परित्यागकर अन्तर्मुख होने लगता है। श्रीकृष्णभक्त स्वयं स्पर्शमणि होते हैं और अपने संसर्गमें आए जीवोंको भी स्पर्शमणि बना देते हैं।

मन्ये भगवतः साक्षात् पार्षदान् वो मधुद्विषः।

विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि॥

(श्रीमद्भा. ११/२/२८)

विदेहराज निमिने भागवतोत्तम देवर्षि नारदसे कहा—भगवन्! मैं ऐसा समझता हूँ कि आप लोग मधुसूदन भगवान्के पार्षद ही हैं, क्योंकि भगवान्के पार्षद संसारी प्राणियोंको पवित्र करने हेतु विचरण किया करते हैं।

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।
 संसारेऽस्मिन् क्षणार्थोऽपि सत्सङ्गः सेवधिनृणाम् ॥
 (श्रीमद्भा. ११/२/३०)

इसलिए त्रिलोकपावन महात्माओ! हम आपलोगोंसे यह प्रश्न करते हैं कि परम कल्याणका स्वरूप क्या है? और उसका साधन क्या है? इस संसारमें आधे क्षणका सत्सङ्ग भी मनुष्योंके लिए परम कल्याणजनक है ॥२५०॥

‘काँहार स्मरण जीव करिबे अनुक्षण?’
 ‘कृष्ण’-नाम-गुण-लीला-प्रधान स्मरण ॥’२५१॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—जीवोंको अनुक्षण किसका स्मरण करना चाहिए? श्रीरायजीने उत्तर दिया—श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका स्मरण करना ही प्रधान स्मरण है।

साधनाकी प्रथमावस्थामें स्मरण बलपूर्वक किया जाता है, परन्तु जैसे-जैसे उनकी बहिर्मुखता कम होती जाती है, वैसे-वैसे ही श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीलाका स्वाभाविक रूपमें स्मरण होने लगता है और एक दिन साधक एक क्षण भी ग्राम्यवार्ता करना नहीं चाहता। अव्यर्थकाल परायण हुआ वह एक क्षणकी भी व्यर्थताको प्रलय सम जानता है।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा ।
 श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवानृणाम् ॥

(श्रीमद्भा. २/२/३६)

परीक्षित! इसलिए मनुष्योंको चाहिए कि सब समय और सभी स्थितियोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे भगवान् श्रीहरिका ही श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण करे।

श्रीजीवगोस्वामीने श्रीभक्तिसन्दर्भमें पाँच प्रकारके स्मरणका वर्णन किया है—

स्मरण—श्रीकृष्णका किञ्चित् अनुसन्धान, धारणा—श्रीकृष्णसे अल्प समयके लिए जुड़ना, ध्यान—किञ्चित् कालके लिए भगवान्की स्फूर्ति,

रूप-वेश भूषादिका दर्शन; दृढ़ स्मृति—भगवान्‌का स्थायी ध्यान और समाधि—विविध रसमयी लीलाओंकी स्फूर्ति। श्रीकृष्णका नाम, गुण तथा लीला—ये तीनों ही एक श्रीकृष्णस्वरूप हैं। श्रीकृष्णस्मरण ही प्रधान स्मरण है जिसका मूल आधार है श्रीनामसंकीर्तन।

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्ण लीलावृन्द।

कृष्णेर स्वरूप सम,—सब चिदानन्द॥

(चै. च. म. १७/१३५)

श्रीकृष्णके नाम, श्रीकृष्णके गुण, श्रीकृष्णकी लीलाएँ तथा श्रीकृष्णका स्वरूप—ये सब चिदानन्द हैं॥२५१॥

‘ध्येय—मध्ये जीवेर कर्तव्य कोन् ध्यान?’

‘राधाकृष्णपदाम्बुज—ध्यान—प्रधान ॥’२५२॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—समस्त ध्यानोंके मध्यमें जीवके लिए किसका ध्यान करना कर्तव्य है? श्रीरायने उत्तर दिया—श्रीराधाकृष्णके चरणारविन्दोंका ध्यान ही प्रधान ध्यान है।

योगियों एवं ज्ञानियोंकी समाधि निर्विकल्प होती है, वहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येय—ये तीनों रहते ही नहीं, न ही अनुभूति होती है और न ही अनुभव करनेवाला, बस शून्य—ही—शून्य होता है। परन्तु भक्तोंकी समाधिमें ध्याता (ध्यान करनेवाला), ध्यानकी वृत्ति और ध्येय (श्रीभगवान्) रहते हैं, उनकी दिव्यातिदिव्य लीलाओंका ध्यान होता है, ध्येयकी स्फूर्ति होती है—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥

(श्रीमद्भा. १/२/१४)

अतः एकाग्र मनसे भक्तवत्सल भगवान्‌का ही नित्य निरन्तर श्रवण, कीर्तन, ध्यान और आराधन करना चाहिए॥२५२॥

‘सर्व त्यजि’ जीवेर कर्तव्य काँहा वास?’

श्रीवृन्दावन—भूमि—याहाँ नित्य—लीलारास॥’२५३॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—सर्वस्व परित्याग करके जीवोंको कहाँ वास करना चाहिए? श्रीरायने कहा—ब्रजभूमि श्रीवृन्दावनमें ही वास करना चाहिए, जहाँ नित्य रासलीला होती है।

अखिलरसामृतसिन्धु श्रीकृष्णकी जितनी भी लीलाएँ हैं, उनमें चूड़ामणि चक्रवर्ती लीला श्रीरासलीला है। इस रासलीलामें ही अन्य सभी लीलाओंका समावेश है और यह लीला परमधाम श्रीवृन्दावनमें हुई। जिनको ब्रजप्रेमकी ऐकान्तिकी लालसा है, उनको वृन्दावनमें ही वास करना चाहिए। यहाँ श्रीरायजीका तात्पर्य भौमवृन्दावनसे है। वृन्दावनधामके मुख्यतः तीन प्रकाश हैं—अप्रकट, प्रकट एवं दृश्यमान। अप्रकट—श्रीगोलोकधाम जो नितान्त प्रपञ्चातीत है। प्रकट—जो भगवान्‌के साथ ही आविर्भूत होता है। भगवान्‌ यहाँ प्रकटलीला करते हैं जिसमें प्रपञ्चका कुछ मिश्रण रहता है। दृश्यमान—जो सभीके द्वारा इन्द्रियगोचर है। रासलीला इसी भौमवृन्दावनका एक असाधारण वैशिष्ट्य है।

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं न हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा. १०/४७/६१)

श्रीउद्धवजीने कहा है—मेरे लिए तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावनधाममें कोई गुल्म, लता अथवा औषधि—जड़ी, बूटी ही बन जाऊँ। अहा! यदि मैं ऐसा बन जाऊँगा, तो मुझे इन ब्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलि निरन्तर सेवन करनेके लिए मिलती रहेगी। इनकी चरणरजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ। देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्‌की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या, भगवत्-निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ भी अब तक भगवान्‌के परम प्रेममय स्वरूपको ढूँढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं॥२५३॥

‘श्रवण-मध्ये जीवेर कोन् श्रेष्ठ श्रवण?’

‘राधाकृष्ण-प्रेमकेलि कर्ण-रसायन ॥’ २५४ ॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—श्रवणमें जीवके लिए सर्वश्रेष्ठ श्रवण क्या है? श्रीरायने उत्तर दिया—कर्ण-रसायनरूप श्रीराधाकृष्णकी प्रेमकेलिका श्रवण ही सर्वश्रेष्ठ है।

जीवोंकी तो बात ही क्या? स्वयं रसिकशेखर श्रीकृष्ण भी प्रेमकेलि गानोंका श्रवण करते हैं। जब श्रीबिल्वमंगल ठाकुर—सम्पूर्ण रूपसे संन्यास लेकर श्रीराधाकृष्णकी प्रेमकेलिलीलाओंका गान करते हुए श्रीवृन्दावन जा रहे थे, तब श्रीकृष्ण स्वयंको नियन्त्रित नहीं कर सके और उनके पीछे-पीछे चलते हुए उनका गान सुनने लगे। अन्ततः उनके द्वारा रचित ग्रन्थका नाम ही कृष्णकर्णामृत हो गया। श्रीराधाकृष्णकी प्रेमकेलि ही प्रधान रूपसे रसायन तुल्य है। श्रवण दो प्रकारका होता है—विचार-प्रधान तथा रुचि-प्रधान। विचार-प्रधान श्रोता संशय करता है जैसे अर्जुन, जब कि रुचि प्रधान श्रोता संशयरहित हो शास्त्रीय वचनोंपर ही परम विश्वासकर भगवत्-गुणानुवादका श्रवण करता है जैसे—नारद। और भी—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः

श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं

हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

(श्रीमद्भा. १०/३३/४०)

परीक्षित्! जो धीर पुरुष व्रजयुवतियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रासविलासका श्रद्धाके साथ बार-बार श्रवण एवं वर्णन करता है, उसे भगवान्‌के श्रीचरणोंमें पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र अपने हृदयके रोग—कामविकारसे छुटकारा पा जाता है ॥२५५॥

‘उपास्येर मध्ये कोन् उपास्य प्रधान?’

‘श्रेष्ठ-उपास्य—युगल ‘राधाकृष्ण’ नाम ॥२५५॥

श्रीमन्महाप्रभुने पूछा—उपास्योंके मध्यमें कौन उपास्य सर्वप्रधान है? श्रीरायने उत्तर दिया—श्रीराधाकृष्णका युगल नाम ही सर्वश्रेष्ठ उपास्य है।

श्रील दास गोस्वामीने कहा है—

राधेतिनाम नवसुन्दर गीतमुग्धं
कृष्णेति नाम मधुराद्भुत-गाढरूपम्
सर्वक्षणं सुरभिरागहिमेन रम्यं
कृत्वा तदेव पिब रसने क्षुधार्त्तं॥

(अभीष्टसूचन १०)

अर्थात् ‘राधा’ यह नाम नूतन सुन्दर अमृतकी भाँति मनको मुग्ध करनेवाला और ‘कृष्ण’ यह नाम अत्यन्त मधुर और अद्भुत गाढ़े दुग्धके समान है; हे क्षुधार्त्त रसने! सुरभिराग (अनुराग) रूप हिम द्वारा रमणीयकर उसका सर्वदा पान करो।

श्रीनरोत्तम ठाकुरने भी कहा है—“राधाकृष्ण नाम गान, सेई से परम ध्यान, आर ना करिह परमान” (प्रेमभक्ति-चन्द्रिका ६७)। श्रीकृष्ण ही सर्वावतारी समस्त भगवत्-स्वरूपोंके मूल कारण सर्व-अंशी हैं। उनकी ह्लादिनीशक्ति श्रीराधा है। अन्यान्य युगल—श्रीशिव-पार्वती, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीरुक्मिणी-कृष्ण इत्यादिमें श्रीराधाकृष्ण-युगल-नाम ही जीवमात्रके लिए सर्वश्रेष्ठ उपास्य है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।

भक्तियोगो भगवति तन्नाम-ग्रहणादिभिः॥

(श्रीमद्भा. ६/३/२२)

इस जगतमें जीवोंके लिए एकमात्र यही सबसे बड़ा कर्त्तव्य अर्थात् परमधर्म है कि वे नामकीर्त्तन आदि उपायोंसे भगवान्‌के श्रीचरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर ले॥२५५॥

‘मुक्ति, भुक्ति वाञ्छे जेइ, काँहा दुँहार गति?’

‘स्थावरदेह, देवदेह जैछे अवस्थिति॥’२५६॥

श्रीमन्महाप्रभु पूछ रहे हैं कि जो मुक्तिकी और भुक्तिकी कामना करते हैं—उन दोनोंकी क्या गति होती है? श्रीमान् रायने उत्तर दिया मुक्ति और भुक्ति चाहनेवालोंकी क्रमशः स्थावरदेह अथवा देवदेहमें अवस्थिति होती है।

इस जगतमें शुभ कर्म करनेवाले इन्द्र, देवता एवं अच्छे मनुष्यकी योनियोंको प्राप्त करते हैं, जब कि अशुभ कर्म करनेवाले स्थावर वृक्ष, कीट, पतङ्ग, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भटकते रहते हैं। जड़भोगहीन मुक्तिवादीगण चरम चित्क्रियासे हीन अर्थात् सुप्त चेतन स्थावरदेह एवं जड़भोगयुक्त भुक्तिवादीगण परलोकमें भोगोपयोगी देवदेह प्राप्त करते हैं—

मुक्त्यै यः प्रस्तरत्वाय शास्त्रमूचे महामुनिः।

गौतमं तं विजानीथ यथा वित्थ तथैव सः॥

निर्विशेष ब्रह्ममें सायुज्य—लय प्राप्त करनेवाले पत्थरके समान चेतनाहीन गति प्राप्त करते हैं और गौतम मतानुसार मुक्ति पानेवालोंकी गति भी वैसी ही चेतनाशून्य गति ही है। और भोगोंकी वासनासे युक्त व्यक्ति—

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः।

भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान् निजार्जितान्॥

(श्रीमद्भा. ११/१०/२३)

देवताओंकी आराधना करके स्वर्गमें जाता है और वहाँ अपने पुण्य कर्मोंके द्वारा उपार्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है।

और भी—

क्वचित्पुमान् क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः।

देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः॥

(श्रीमद्भा. ४/२९/२९)

इस प्रकार अपने कर्म एवं गुणोंके अनुसार देवयोनि, मनुष्ययोनि अथवा पशुयोनियोंमें जन्म लेकर वह अज्ञानान्ध जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री और कभी नपुंसक होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता (९/२०-२१) में भी कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

त्रिवेदोक्त सकाम कर्मपरायण व्यक्तिगण यज्ञोंके द्वारा मेरी पूजाकर यज्ञके अवशिष्ट सोमरसका पानकर निष्पाप होकर स्वर्ग-गमनकी प्रार्थना करते हैं। पुण्यफलके रूपमें इन्द्रलोकको प्राप्तकर वे दिव्य देवभोग्य भोगोंको उपभोग करते हैं।

वे उस विशाल स्वर्गलोकका भोग करनेके पश्चात् पुण्यके क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें पतित होते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंमें उक्त सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुनः संसारमें आवागमनको प्राप्त होते हैं। किसी-किसी ग्रन्थमें 'मुक्ति-भुक्ति' के स्थानपर 'मुक्ति-भक्ति' पाठ देखा जाता है। तब जो भक्तिकी वाञ्छा करते हैं, वे सिद्धावस्थामें अपने-अपने भावोंके अनुसार पार्षददेह प्राप्तकर श्रीकृष्णके समीप रहकर अपने भावके अनुसार श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवा करते हैं। उनकी इस सेवा प्राप्तिको देवदेहमें अवस्थितके समान कहा गया है। क्योंकि देवशरीरसे जिस प्रकार स्वच्छन्द रूपसे नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग किया जा सकता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके पार्षदशरीरसे विविध वैचित्रीमय लीलारसका आस्वादन किया जा सकता है ॥२५६॥

अरसज्ञ काक-चूषे ज्ञान-निम्बफले।
 रसज्ञ कोकिल खाय प्रेमाग्र-मुकुले ॥२५७॥
 अभागिया ज्ञानी आस्वादये शुष्क ज्ञान।
 कृष्ण-प्रेमामृत पान करे भाग्यवान् ॥२५८॥
 एइमत दुइजन कृष्णकथा-रसे।
 नृत्य-गीत-रोदने हैल रात्रि-शेषे ॥२५९॥
 दोहे निज निज-कार्ये चलिला विहाने।
 सन्ध्याकाले राय आसि' मिलिला आर दिने ॥२६०॥

अरसज्ञ अर्थात् रसको न जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी उस काकके समान हैं, जो नीमके फल जैसी स्वादरहित कड़वी वस्तुओंको ही भक्षण करता रहता है और भक्तिरसके रसिक उस कोकिलके समान हैं, जो प्रेमरूपी आमके कोमल एवं मृदुल मुकुलोंका आस्वादन किया करती है। अभागे ज्ञानी केवल शुष्क एवं नीरस ज्ञानके आनन्दमें अपनेको धन्य समझते हैं, परन्तु जो भाग्यवान हैं, वे श्रीकृष्णप्रेमरूपी अमृतका पान करते रहते हैं। ज्ञानी भक्तिरसानन्दसे अनभिज्ञ होता है और जिसमें लीला नहीं, आनन्द-वैचित्री नहीं, उस नीरस निर्विशेष ब्रह्ममें सायुज्य मुक्ति चाहता है। तथा ब्रह्मैक्य ज्ञानकी आधारहीन कल्पनाओंमें मग्न रहता है। भक्तिरससे वञ्चित वह “अहं ब्रह्मास्मि” इत्यादि चार वाक्यरूपी निम्बफलका चषक लिया करते हैं। श्रीकृष्णदास कविराजने इस मिथ्या ज्ञानको नीमफलके समान कहा है, जो आस्वादनीय नहीं होता, कर्कश-तर्कनिष्ठ काकरूप जीवके द्वारा ही इसका भोग किया जाता है। प्रेम वह आम्र-मुकुल है, जिसका आस्वादन मधुर, प्रिय, रसीला एवं सुमिष्ट होता है—इसके आस्वादक कोकिल तुल्य कृष्णभक्त होते हैं। ज्ञानी भाग्यहीन हैं और भक्त भाग्यवान। इस प्रकार श्रीराय रामानन्द एवं श्रीमन्महाप्रभु दोनों ही श्रीकृष्णकी कथाओंका आस्वादन करते रहे, प्रेमपूर्वक नृत्य-गीत-रोदन करते रहे और सारी रात्रि बीत गई। विहान (प्रातःकाल) होते ही दोनों अपने-अपने कार्यके लिए चले गए। सन्ध्या काल होनेपर पूर्व

दिनोंकी भाँति श्रीराय रामानन्द पुनः आकर श्रीमन्महाप्रभुजीसे मिले ॥२५७-२६०॥

इष्टगोष्ठी कृष्णकथा कहि' कतक्षण।
 प्रभुपद धरि' राय करे निवेदन ॥२६१॥
 'कृष्णतत्त्व', 'राधातत्त्व', 'प्रेमतत्त्वसार'।
 'रसतत्त्व', 'लीलातत्त्व' विविध प्रकार ॥२६२॥
 एत तत्त्व मोर चित्ते कैले प्रकाशन।
 ब्रह्माके वेद येन पड़ाइल नारायण ॥२६३॥
 अन्तर्यामी ईश्वरेर एइ रीति हय।
 बाहिरे ना कहे, वस्तु प्रकाशे हृदय ॥२६४॥

सन्ध्याके समय जब रामानन्द राय श्रीमन्महाप्रभुजीसे मिले तब उनदोनोंमें कुछ समय तक इष्टगोष्ठी—कृष्णकथाका कथन और श्रवण हुआ। तत्पश्चात् श्रीराय रामानन्दने उनके श्रीचरणोंको धारणकर बड़े ही विनीत भावसे निवेदन किया—आपने मेरे हृदयमें कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्व, रसतत्त्व एवं विविध प्रकारके लीलातत्त्वोंको इस प्रकार प्रकाशित किया है, जिस प्रकार श्रीनारायणने ब्रह्माजीको वेद पढ़ाया था। अन्तर्यामी ईश्वरकी यही रीति है कि वे बाहरसे कुछ नहीं कहा करते, किन्तु हृदयमें उस तत्त्ववस्तुको स्फुरित करते हैं।

ब्रह्माजीके हृदयमें भगवत्कर्तृक वेद प्रकाशन हुआ, जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् (६/८) में कहा गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्
 यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
 तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
 मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

जिन्होंने पूर्वकालमें ब्रह्माके हृदयमें वेदोंकी स्फूर्ति अर्थात् प्रेरणा की थी, उन आत्मबुद्धि प्रकाशक श्रीकृष्णकी—भगवान्की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

इसी प्रकार—

प्राह भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्।

ब्रह्मणे भगवत्प्रोक्तं ब्रह्मकल्प उपागते ॥

(श्रीमद्भा. २/८/२८)

उन्होंने (श्रीशुकदेवजीने) वेदतुल्य उसी श्रीमद्भागवत महापुराणको सुनाया, जो ब्राह्मकल्पके आरम्भमें स्वयं भगवान् ने ब्रह्माजीको सुनाया था।

और भी—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।

मयाऽऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥

(श्रीमद्भा. ११/१४/३)

प्रिय उद्धव! यह वेदवाणी समयके फेरसे प्रलयके अवसरपर लुप्त हो गई थी, फिर जब सृष्टिका समय आया, तब मैंने अपने सङ्कल्पसे ही इसे ब्रह्माजीको उपदेश दिया, इसमें मेरे भागवत धर्मका ही वर्णन है।

इसी प्रकारसे—

लीलाकथास्ते कथिताः समासतः।

कात्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीशः ॥

(श्रीमद्भा. १२/४/३९)

हे कुरुश्रेष्ठ! जो कुछ मैंने संक्षेपमें कहा है, वह सब उन्हींकी लीला कथा है। भगवान् की लीलाओंका पूर्ण वर्णन तो स्वयं ब्रह्माजी भी नहीं कर सकते। तथा—

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञान प्रदीपः पुरा।

(श्रीमद्भा. १२/१३/१९)

यह श्रीमद्भागवत भगवत्-तत्त्वज्ञानका एक श्रेष्ठ प्रकाशक है। इसे पहले-पहले श्रीभगवान् नारायणने ब्रह्माजीके लिए प्रकट किया था।

यहाँ श्रीरायका आशय यही है कि जैसे आदि कवि श्रीब्रह्माजीके मनमें श्रीभगवान्ने वेदोंका ज्ञान अपने सङ्कल्पमात्रसे ही प्रकाशित करा दिया था, उसी प्रकार श्रीमन्महाप्रभुने ही मेरे हृदयमें प्रकाशितकर मेरे मुखसे इन सभी तत्त्वोंको प्रकाशित कराया है ॥२६१-२६४॥

श्रीरामानन्द रायके उक्त कथनका प्रमाण निम्नलिखित भागवतका श्लोक है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुहन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥२६५॥

जिससे इस जगतकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय होते हैं—क्योंकि वह सद्रूप पदार्थोंमें अनुगत है और असत् पदार्थोंसे पृथक् है, जड़ नहीं, चेतन है, परतन्त्र नहीं, स्वयं प्रकाश है, जो ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ नहीं, प्रत्युत् उन्हें अपने सङ्कल्पसे ही जिसने उस वेदज्ञानका दान किया है, जिसके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं, जैसे तेजोमय सूर्यरश्मियोंमें जलका, जलमें स्थलका और स्थलमें जलका भ्रम होता है, वैसे ही जिसमें यह त्रिगुणमयी जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिरूपा सृष्टि मिथ्या (नश्वर) होनेपर भी अधिष्ठान सत्तासे सत्यवत् प्रतीत हो रही है, उस अपनी स्वयं प्रकाश ज्योतिसे सर्वदा और सर्वथा माया और मायाकार्यसे पूर्णतः मुक्त रहनेवाले परम सत्यरूप परमात्माका हम ध्यान करते हैं यह व्याख्या स्वामी श्रीधरकी टीकाके आधारपर है।

हमारे गोस्वामी वर्गके अनुसार प्रस्तुत श्लोकका अर्थ इस प्रकार है—

जिस तत्त्वसे इस विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं यह निश्चित हुआ है; अन्वय और व्यतिरेक भावसे विचार करनेपर जो समस्त अर्थ अथवा व्यापारमें एकमात्र 'ज्ञ-तत्त्व' अर्थात् स्वरूपतत्त्व स्थिर किए गए हैं; जो दृश्यमान जगतमें एकमात्र स्वराट् अर्थात् स्वतन्त्र राजा हैं; जिन्होंने आदि कवि ब्रह्माको अन्तर्यामी रूपमें

ब्रह्मतत्त्वकी शिक्षा दी है; जिनमें समस्त बुद्धिमान पण्डितोंको बार-बार मोह हुआ करता है; जिनमें तेजो-वारि-मृत्तिका प्रभृति (पञ्च) भूतोंका विनिमय अर्थात् पृथक्-पृथक् सत्ता है; जिनमें तीन प्रकारकी सृष्टि अर्थात् चित्-जगत प्रकाशरूप चित्-सृष्टि, जीव-प्राकट्यरूप जीव-सृष्टि और मायिक-ब्रह्माण्डरूप सृष्टि—सत्यरूपसे वर्तमान है; उसी आत्मशक्ति द्वारा नित्य कुहकरहित (अज्ञानरहित) परम सत्य-तद्भवरूप श्रीकृष्णका हम ध्यान करते हैं।

श्रीरामानन्द रायके इन सब प्रमाणोंके द्वारा कथनका आशय यह है कि श्रीगौरसुन्दर ही गायत्रीके प्रतिपाद्य बुद्धिप्रवर्तक भर्गोदेव हैं। उन्होंने ही मेरे हृदयमें कृष्णतत्त्व, राधातत्त्व, प्रेमतत्त्व और विलास-रसतत्त्व आदिको प्रकाशितकर मेरे मुखसे उन सब तत्त्वोंको प्रकाशित कराया है—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सर्ती स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥

(श्रीमद्भा. २/४/२२)

जिन्होंने सृष्टिके समय ब्रह्माके हृदयमें पूर्वकल्पकी स्मृति जागरित करनेके लिए ज्ञानकी अधिष्ठात्री देवीको प्रेरित किया और वे अपने अङ्गोंके साथ वेदके रूपमें उनके मुखसे प्रकट हुईं, वे ज्ञानके मूलकारण श्रीभगवान् (श्रीचैतन्यचन्द्र) मुझपर कृपा करें, मेरे हृदयमें प्रकट हों।

श्रीजीवगोस्वामीपादने कहा है 'सत्यम्' शब्द—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—परतत्त्व वस्तु परक है। परतत्त्व स्वरूपमें, शक्तिमें, ज्ञान-बल-क्रियामें सर्वविध सर्वापेक्षा बृहत् है—वे सर्वशक्तिमान, सर्वावतारी, सर्वेश्वर, परम सत्य, परब्रह्म, श्रीकृष्ण ब्रजेन्द्रनन्दन हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरके टीकानुयायी अर्थ—अन्वय और व्यक्तिरेक रूपमें इस जगतका उपादान-कारण और निमित्त-कारण होनेसे इस जगतकी सृष्टि, स्थिति और विनाश जिनसे होता है; सृज्य

और असृज्य-वस्तुके विषयमें जो सर्वज्ञ हैं; जो अन्य निरपेक्ष, स्वतःसिद्ध और स्वतन्त्र हैं; जिस वेदमें ज्ञानीजन भी मोहको प्राप्त हो जाते हैं, उसी वेदका उन्होंने सङ्कल्पमात्रसे ब्रह्माके हृदयमें प्रकाश किया है; तेज, जल और मिट्टी—इन तीन वस्तुओंमेंसे किसी एकको दूसरी समझना जिस प्रकार मिथ्या या मिथ्या-ज्ञानमात्र है, उसी प्रकार जिस परमेश्वरके देहके विषयमें त्रिगुण-सृष्टि-बुद्धि भी मिथ्या या मिथ्या ज्ञान है—अथवा जहाँ तेज, जल, वायु और मिट्टीका यथायथ सम्मिलन होता है अर्थात् इन तीनोंके यथायथ मिलनेसे जो वस्तु उत्पन्न होती है, वहींपर (तथाभूत) त्रिगुण-सृष्टि ही मिथ्या (अनित्य) है, इस त्रिगुणमयी सृष्टिके जो कर्ता हैं, उनकी देह मिथ्या नहीं है—जो स्वरूपशक्ति द्वारा मायाको दूर हटाकर अपने नित्य धाममें नित्य विराजित हैं, उन परमेश्वरका ध्यान करता हूँ।

प्रस्तुत “जन्माद्यस्य यतः” गौरलीलाको भी सूचित करता है।
यथा—

आद्यस्य—(आश्रयस्वरूपसे निज माधुर्यास्वादन हेतु आविर्भूत श्रीगौराङ्ग महाप्रभु, यतः—श्रीशची-जगन्नाथके गृहसे, जन्मलीला प्रकट की, ततः—वहाँसे अर्थात् नवद्वीपसे (इतरश्च) अन्यत्र अर्थात् नीलाचलमें, अन्वयात्—अनुगमन किया, जो अर्थेषु (प्रेमभक्ति दान विषयमें) अभिज्ञः—निपुण हैं और यः जिन्होंने आदिकवये—श्रेष्ठ कवि रामानन्दजीके सम्मुख हृदा—वेदोंके सारभूत श्रीकृष्णतत्त्वादिका तेने—विस्तार किया, यत्—जिस विषयमें सुरयः—महापण्डितगण मुह्यन्ति—मोहको प्राप्त हो जाते हैं। तेजोवारिमृदां—तेज, जल, पृथ्वी, वायु एवं आकाशादि पञ्च महाभूत यथा विनिमयः—यथायथ भावमें परस्पर एक साथ मिलकर एक वैचित्रमयी भक्तिकी भूमिकामें अवस्थित हुए हैं (विद्यासे गर्वित, मूर्ख, दरिद्र, कोल, भील, व्याघ्र, भालु, तरु-लता आदि प्रेमभक्तिकी कृपा प्राप्त हुए हैं, भगवत्-उन्मुख हुए हैं) जिन्होंने स्वेन—अपनी धाम्ना—स्वरूपशक्तिके प्रभावसे श्रीवासुदेव सार्वभौमादि ज्ञानी साधकोंके निरस्त कुहक—भ्रमको निरस्त कर दिया एवं यत्र—जिनका त्रिसर्ग—नवद्वीप, नीलाचल एवं श्रीवृन्दावन—इन तीनों परमानन्दमय धामोंमें वैभव

प्रकाशित हुआ, जो अमृषा—सदा सत्य है; सत्यं परं—सत्यस्वरूप परम तत्त्व श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका धीमहि—ध्यान करते हैं ॥२६५॥

एक संशय मोर आछये हृदये।
 कृपा करि' कह मोरे ताहार निश्चये ॥२६६॥
 पहिले देखिलुँ तोमार संन्यासी—स्वरूप।
 एवे तोमा देखि मुजि श्याम—गोपरूप ॥२६७॥
 तोमार सम्मुखे देखि काञ्चन—पञ्चालिका।
 तारँ गौरकान्त्ये तोमार सर्व अङ्ग ढाका ॥२६८॥
 ताहाते प्रकट देखि स—वंशी वदन।
 नाना—भावे चञ्चल ताहे कमल—नयन ॥२६९॥
 एइमत तोमा देखि' हय चमत्कार।
 अकपटे कह, प्रभु, कारण इहार ॥२७०॥

श्रीराय रामानन्दने कहा—प्रभो! मेरे हृदयमें एक संशय और रह गया है, आप कृपा करके मुझे उसका समाधान निश्चय करके बताइए। पहले मैंने आपके श्रीसंन्यासीस्वरूपका दर्शन किया, परन्तु अब इस समय मैं आपको श्याम-वर्णवाला गोप (श्रीकृष्ण) देख रहा हूँ और आपके सम्मुख एक काञ्चन-पुतलिका (स्वर्ण-प्रतिमा) भी देख रहा हूँ—जिसकी गौरकान्तिसे आपके सारे अङ्ग ढके हुए हैं। आपके श्रीमुखपर वंशी भी परिलक्षित हो रही है, नानाविध भावोंसे आपके नेत्रकमल भी बड़े चञ्चल हो रहे हैं। इस प्रकारसे आपके स्वरूपको देखकर मेरे हृदयमें बड़ा अद्भुत चमत्कार भाव उदित हो रहा है। हे प्रभो! आप कपटताका परित्याग करके इसका यथार्थ कारण बतलाइए।

श्रीराय रामानन्द श्रीचैतन्य महाप्रभुके संन्यासीस्वरूप एवं रसरज-महाभाव दोनों ही स्वरूपोंको देख रहे हैं। उनका संन्यासीस्वरूप नित्य कृष्ण-विरहजनित तापस स्वरूप है, जब कि महाभावस्वरूप अधिरूढ महाभावमय नित्य विशिष्ट रागसे युक्त स्वरूप है। अब महाप्रभु

कृपापूर्वक अपना स्वरूपतत्त्व प्रकाशित करना चाहते हैं। अतः कुछ-कुछ ऐश्वर्य प्रकटित कर रहे हैं। रामानन्द द्वारा उक्त 'सन्देह' शब्द यहाँ 'विस्मय' अर्थ वाचक है। गौरकान्ति सुवलित त्रिभङ्ग-ललित गति वंशीवदन ही महाप्रभुका स्वरूपतत्त्व है ॥२६६-२७०॥

प्रभु कहे,—“कृष्णे तोमार गाढ़प्रेम हय।

प्रेमार स्वभाव ऐई जानिह निश्चय ॥२७१॥

महाभागवत देखे स्थावर-जंगम।

ताँहा ताँहा हय ताँ श्रीकृष्ण-स्फुरण ॥२७२॥

स्थावर-जंगम देखे, ना देखे तार मूर्ति।

सर्वत्र हय ताँ इष्टदेव-स्फूर्ति ॥२७३॥

श्रीमन्महाप्रभुने आत्म-गोपन करते हुए श्रीराय रामानन्दसे कहा—आपका श्रीकृष्णके प्रति अति गाढ़ अनुराग है। प्रेमका स्वभाव ही यह होता है कि महाभागवत स्थावर-जंगम नहीं देखते, वे जहाँ-जहाँ भी देखते हैं, उन्हें श्रीकृष्णकी ही स्फूर्ति होती है। न उन्हें स्थावर-जंगम दिखाई देता है, न ही उनकी मूर्ति (आकार) दिखाई देती है, बस सर्वत्र अपने इष्टदेवकी ही स्फूर्ति होती है।

महाभागवत विशुद्ध प्रेमीभक्त स्थावर-जंगमकी रूपाकृतिको नहीं देखते, उन्हें तो यत्र-तत्र-सर्वत्र अपने इष्टकी लीलामाधुरीकी उद्दीपना ही होती है। जैसे कि ज्ञानी सर्वम् खल्विदं ब्रह्म—सम्पूर्ण जगतको ब्रह्मस्वरूप और योगी “यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति”—परमात्माको सर्वत्र देखता है और सब कुछ परमात्मामें देखता है, तब महाभागवत रसिक शुद्ध प्रेमीभक्तोंकी तो बात ही क्या? उनका हृदय तो द्रवीभूत होकर सर्वत्र श्रीकृष्ण लीलाओंके उद्दीपन-विभावोंको ही अनुभव करता है ॥२७१-२७३॥

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।

भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥२७४॥

(श्रीमद्भा. ११।२।४५)

नौ योगीश्वरोंमेंसे दूसरे हविजी महाराज नेमिसे बोले—राजन्! जो समस्त भूतोंमें—समस्त प्राणियोंमें आत्माके आत्मरूप भगवान् श्रीकृष्ण—चन्द्रको ही दर्शन करते हैं और आत्माके आत्मस्वरूप श्रीकृष्णमें समस्त प्राणियोंको दर्शन करते हैं, वे भागवतोंमें भी परमोत्तम महाभागवत हैं। तात्पर्य यह है कि परम भागवत सारे प्राणियोंमें अपने अभीष्टदेवका दर्शन करते हैं तथा अपने अभीष्टदेवमें उनका जैसा प्रेम है, वैसा ही प्रेम, उनके अभीष्टदेवके प्रति सारे प्राणियोंका भी है। तत्त्वज्ञ, परमार्थविद, व्यासादि परम भागवत ही भगवान्को समझ सकते हैं, भगवान्के अवतार, शील, रूप, चरित्र एवं परम सात्त्विक भावको लक्ष्यकर उनके यथार्थ तत्त्वको जान सकते हैं, किन्तु राजस एवं तामस भाव—विशिष्ट असुर प्रकृतिके जीव भगवान्को जाननेमें कभी भी समर्थ नहीं हो सकते। भगवान् भी आत्मगोपन करते हैं—(जैसे यहाँ श्रीचैतन्यमहाप्रभु आत्मगोपन कर रहे हैं) परन्तु महाभागवत भक्तोंके समक्ष उनकी चतुराई टिक नहीं पाती। देश, काल, परिस्थिति—इन तीन सीमाओं द्वारा समस्त वस्तुएँ बँधी हुई हैं, भगवान्का गूढ़ स्वभाव असमोर्द्ध्व होनेके कारण तीनों सीमाओंकी मर्यादाका उल्लंघनकर विद्यमान है। योगमायाशक्ति द्वारा भगवान् अपने उस रूपको छिपा लेते हैं, किन्तु उनके अनन्य भक्तगण सदैव उनका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' करते हैं—विदेहराज निमि महाराज उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीनों प्रकारके भक्तोंके लक्षण, दर्शन, आचरण एवं उक्तिके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनेपर नवयोगेन्द्रमें अन्यतम हविने कहा—यः सर्वभूतेषु (चेतनाचेतनात्मकेषु सर्वेषु) आत्मनः (भोगजडातीतस्य अप्राकृतस्य) भगवद्भावं (भूतानां भगवत्सेवोपयोगिसिद्धस्वरूपादिकं) पश्येत्, आत्मनि भगवति, (निज सिद्धरूपेण अप्राकृत नित्यसेवापराणि) भूतानि पश्येत् (सः) एषः भागवतोत्तमः अप्राकृत भावप्रावल्यान महाभागवतः सर्वत्र सेव्य सेवक भावावस्थिताः कृष्णकार्ष्णान् पश्यन्ति बहिर्दृष्टेरभावात्॥२७४॥

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं,

व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाद्याः।

प्रणतभारविटपा मधुधाराः
प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म ॥२७५॥

(श्रीमद्भा. १०/३५/९)

श्रीकृष्णकी भावनामें डूबी हुई विरहिणी गोपियाँ कहती हैं—फल और फूलोंसे लदी तथा झुकी हुई डालियोंवाली विकसित पुष्पोंके बहाने रोमाञ्चित लताएँ अपने हृदयमें विष्णु विराजमान हैं—मानो इस तथ्यको प्रकाश करके ही आनन्दसे मधुधाराका वर्षण कर रही हैं और लताओंके पति वृक्षगण भी लताओं जैसा ही आनन्द प्रकाश कर रहे हैं।

प्रस्तुत श्लोक विरहिणी ब्रजसुन्दरियों द्वारा उच्चरित है। ब्रजसुन्दरियोंका श्रीकृष्णके प्रति गाढ़ अनुराग है। ये वनके तरु, लताओंको देखकर समझती हैं कि हमारी तरह ही ये भी श्रीकृष्णके प्रति परम अनुरागवती हैं। जैसे हमारे हृदयमें श्रीकृष्णका दर्शनकर अनायास ही अश्रुधाराएँ बहती हैं, ठीक वैसे ही इन वृक्षोंसे, लताओंसे मधुधारासूत्री अश्रुवर्षण हो रहा है। महाभावका लक्षण यही है कि महाभावमय वे (गोपियाँ) अपने भावोंका दूसरोंपर आरोपणकर, अपनेको दीन-हीन मानकर दूसरेके सौभाग्यका वर्णन करती हैं। इन गोपियोंमें भगवान्की भगवत्ता स्फूर्ति नहीं होती, बल्कि अपने इन कमनीय मृदुल भावोंको लतादिमें आरोपितकर अभिव्यक्त कर रही हैं ॥२७५॥

राधाकृष्णे तोमार महाप्रेम हय।
जाँहा ताँहा राधाकृष्ण तोमारे स्फुरय ॥”२७६॥
राय कहे,—“प्रभु तुमि छाड़ भारिभुरि।
मोर आगे निजरूप ना करिह चुरि ॥२७७॥
राधिकार भावकान्ति करि’ अङ्गीकार।
निजरस आस्वादिते करियाछ अवतार ॥२७८॥
निज-गूढ़कार्य तोमार—प्रेम-आस्वादन।
आनुषङ्गे प्रेममय कैले त्रिभुवन ॥२७९॥

आपने आइले मोरे करिते उद्धार।

एवे कपट कर,—तोमार कोन् व्यवहार॥”२८०॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—रामानन्द! तुम्हारे हृदयमें श्रीराधाकृष्णके प्रति महाप्रेम है, इसलिए जहाँ-तहाँ सर्वत्र तुम्हारे हृदयमें श्रीराधाकृष्णकी ही स्फूर्ति होती है। यह सुनकर श्रीराय रामानन्दने कहा—प्रभो! आप चतुराई छोड़िए। मुझसे अपने स्वरूपको मत छिपाइए। श्रीराधिकाकी भावकान्ति आत्मसात्कर स्वयं रसास्वादनके लिए ही आपने अवतार धारण किया है। आपका अपना परम गूढ़ कार्य है—प्रेमका आस्वादन करना। आनुषंगिक रूपसे आपने तीनों भुवनोंको प्रेममय बना दिया है। आप यहाँ मेरा उद्धार करनेके लिए आए हैं। फिर कपटता क्यों कर रहे हैं? यह आपका कैसा व्यवहार है?॥२७६-२८०॥

तबे हासि' तौरे प्रभु देखाइल स्वरूप।

'रसरज', 'महाभाव'—दुई एक रूप॥२८१॥

देखि' रामानन्द हैला आनन्दे मूर्च्छिते।

धरिते ना पारे देह, पड़िला भूमिते॥२८२॥

प्रभु तौरे हस्त स्पर्शि' कराइला चेतन।

संन्यासीर वेश देखि' विस्मित हैल मन॥२८३॥

आलिङ्गन करि' प्रभु कैल आश्वासन।

“तोमा बिना एइरूप ना देखे अन्यजन॥२८४॥

श्रीरामानन्दजीके वचनोंको सुनकर महाप्रभुने हँसते हुए अपना स्वरूप दिखलाया। वह स्वरूप कैसा था? उस स्वरूपमें मूर्तिमान शृंगार-रसरज श्रीकृष्ण और मूर्तिमती महाभावमयी श्रीराधा दोनों ही एक रूपमें प्रकट हो रहे थे। इस अपूर्व स्वरूपको देखते ही श्रीरामानन्दजी अत्यधिक आनन्दसे मूर्च्छित हो गए, देहको सम्भाल न पाए और भूमिपर गिर पड़े। श्रीमन्महाप्रभुने उनको अपने हस्तकमलोंसे स्पर्शकर उन्हें चेतन किया। चेतनावस्था आनेपर पुनः उनका संन्यासी वेश देखा और उनका मन आश्चर्यचकित हो गया। श्रीमन्महाप्रभुने राय रामानन्दका आलिङ्गन किया और आश्वासन देते हुए कहने लगे

कि राय! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई मेरे इस रूपको नहीं देख सकता ॥२८१-२८४॥

मोर तत्त्वलीला-रस तोमार गोचरे।
 अतएव एई रूप देखाइलुं तोमारे ॥२८५॥
 गौर अङ्ग नहे मोर—राधाङ्ग—स्पर्शन।
 गोपेन्द्रसुत विना तेंहो ना स्पर्श अन्यजन ॥२८६॥
 ताँर भावे भावित करि' आत्म-मन।
 तब निज-माधुर्य करि आस्वादन ॥२८७॥
 तोमार ठाजि आमार किछु गुप्त नाहि कर्म।
 लुकाइले प्रेम-बले जान सर्व मर्म ॥२८८॥

श्रीमन्महाप्रभुने पुनः कहा—राय! मेरा स्वरूपतत्त्व एवं लीलारसतत्त्व सब कुछ तुम जानते हो। अतः मैंने तुम्हें यह अपना विशेष स्वरूप दिखलाया है। मेरा गौरवर्ण नहीं है, परन्तु श्रीराधाजीके अङ्गस्पर्शसे मेरा गौरवर्ण हो गया है और श्रीराधा गोपेन्द्रसुत अर्थात् ब्रजेन्द्रनन्दनके अतिरिक्त किसी अन्यजनका कदापि स्पर्श नहीं करती हैं। श्रीराधाजीके भावोंमें अपने मन एवं आत्माको अनुभावित करके ही मैं अपने माधुर्यका आस्वादन कर सकता हूँ। तुम्हारे सम्मुख मेरा कोई भी तत्त्व छिपा नहीं रह सकता। मैंने आत्मगोपनका प्रयास अवश्य किया, परन्तु तुम्हारे प्रेमके अतिशय प्रभावके कारण उसमें मैं सफल नहीं हो सका, तुमने मेरा स्वरूपतत्त्व जान लिया अर्थात् मुझे पहचान ही लिया।

राय रामानन्दका आशय यह है कि वे श्रीमन्महाप्रभुको अच्छी तरहसे पहचानते हैं कि वे ही ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर हैं। ब्रजमें श्रीराधाजीके मादनाख्यभावका वे आस्वादन नहीं कर पाए थे। उसी हेतु श्रीराधाजीकी अङ्गकान्ति एवं भाव लेकर गौराङ्ग बनकर आए हैं। अब गौराङ्गकी कृपासे रामानन्द रायकी अपनी वस्तुस्थिति विशाखा सखी अर्थात् पूर्व जन्मकी स्मृति महाभाव एवं रसराजका दर्शन करने योग्य है। भगवान् चतुरशिरोमणि हैं, परन्तु भक्त उनसे भी अधिक

चतुर होते हैं। भक्तको हरानेमें भगवान्‌को प्रसन्नता नहीं होती, बल्कि भक्तसे हरानेमें उनको अधिक प्रसन्नता होती है। रामानन्द रायने महाप्रभुके आत्मगोपनत्वकी चोरी पकड़ ली और महाप्रभु पराजित हो गये। उनका गोपेन्द्रसुत रूप पकड़ ही लिया गया।

श्रीमान् राय रामानन्द महाप्रभुके संन्यासीस्वरूपको देखकर मूर्च्छित नहीं हुए, उनके वंशीवदन श्रीब्रजेन्द्रनन्दनके स्वरूपको देखकर भी मूर्च्छित नहीं हुए; उनके रसराज महाभाव सम्मिलित स्वरूपको देखकर मूर्च्छित हो गए। ठीक ही तो है, विशाखाजी श्रीकृष्णके रूपको देखकर अत्यन्त आनन्दित होती हैं, श्रीराधाजीके स्वरूपको भी देखकर अत्यन्त आनन्दित होती हैं; परन्तु श्रीराधाकृष्णके मिलित तनुका अवलोकनकर इतनी भावविह्वल हो गई कि स्वयंको सम्भालना कठिन हो गया और मूर्च्छित हो गई। वस्तुतः यही रसराज-महाभावरूप ही भगवत्ताका सार है। स्वयं ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण एवं श्रीगौराङ्ग महाप्रभु जब दोनों ही भगवत्ताके सारभूत हैं, तो ईश्वरमें द्वयत्व किस प्रकार हो गया। श्रीकृष्ण एवं श्रीगौर ये दो पृथक् तत्त्व नहीं एक ही हैं—श्रीकृष्ण ही राधाभावद्युति अङ्गीकार करनेके कारण अन्तः कृष्ण बहिः गौर हुए हैं। अपनी प्रकटलीलामें श्रीकृष्ण जिस प्रकार मालिनी, मनिहारी, वैद्य आदि रूप धारणकर छद्मलीला करते हैं, उसी प्रकार महाभाव आस्वादन हेतु गौररूप धारणकर आत्मगोपन किया है। उन्होंने अपने ऐश्वर्यका संवरणकर पुनः संन्यासीरूपके दर्शन कराए हैं। अप्राकृत शृङ्गार-रसराजविग्रह श्रीकृष्ण विषय-प्रधान हैं तथा मादनाख्य-महाभावस्वरूपिणी श्रीराधिकाजीकी गौरकान्तिसे आच्छादित विग्रह श्रीमन्महाप्रभु आश्रय-प्रधान हैं। मादनाख्य-महाभावके बिना श्रीकृष्णके असमोर्द्ध्व माधुर्यका आस्वादन सम्भव नहीं है। श्रीकृष्णका प्रत्येक अङ्ग श्रीराधाके प्रत्येक अङ्गोंसे ढका हुआ है। यथार्थतः श्रीकृष्णका अङ्ग गौर वर्ण नहीं; श्रीराधाजीके गौर अङ्गोंके द्वारा उनका प्रत्येक अङ्ग ढका रहनेके कारण ही वे गौरवर्णके दिखलाई पड़ रहे हैं। गौर एवं कृष्ण दोनों ही स्वरूपविग्रह अर्थात् कृष्णस्वरूपमें सम्भोगरसके नागर अथवा विषय विग्रह हैं और कृष्ण ही गौर स्वरूपसे विप्रलम्भरसमें आश्रय-विग्रह श्रीराधाभाव कान्तियुक्त श्रीकृष्णचैतन्य हैं।

धीर ललित नायक स्वयरूप श्रीनन्दनन्दनके अतिरिक्त कोई भी विष्णुविग्रह श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति, पूर्ण चित्-शक्ति श्रीराधाजीका भोक्ता नहीं हो सकता। गोपेन्द्रसुत श्रीकृष्णको छोड़कर सभी विष्णुविग्रहोंमें शृङ्गाररस एवं धीरललित नायकत्वका अभाव एवं ऐश्वर्य भावका प्राबल्य होता है। अतएव श्रीराधाजी गोविन्दानन्दिनी, गोविन्दमोहिनी, गोविन्द सर्वस्वा, सर्वकान्ताशिरोमणि हैं ॥२८५-२८८॥

गुप्ते रखिह, काहाँ ना करिह प्रकाश।

आमार वातुल-चेष्टा लोके उपहास ॥२८९॥

आमि—एक वातुल, तुमि—द्वितीय वातुल।

अतएव तोमाय-आमाय हइ समतुल ॥”२९०॥

श्रीमन्महाप्रभुने कहा—राय! तुम मेरे इस स्वरूप, तत्त्व एवं दर्शनको अप्रकट ही रखना, कहीं प्रकाशित मत कर देना। मेरी सारी चेष्टाएँ उन्मत्तकी भाँति हैं। अतः लोग उपहास करेंगे। मैं एक पागल और तुम दूसरे पागल, हम-तुम दोनों ही समतुल्य हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु अति दीनतापूर्वक कह रहे हैं कि यह कथा तर्क-निष्ठ जगतमें किसी अभक्त अनधिकारीके सम्मुख प्रकाशित नहीं करनी चाहिए, वे जड़बुद्धिवाले तर्कनिष्ठ अभक्त इसका मूल्य नहीं समझ पाएँगे और उपहास करनेसे अपराधी हो जाएँगे। पागलसे तात्पर्य है—प्रेमोन्मत्त। रागानुगाभावमें मत्त इनकी प्रेमचेष्टाएँ कृष्णोत्तर जड़रस-रसिक कभी नहीं समझेंगे और इन प्रेममयी चेष्टाओंको पागलपन ही कहेंगे। जो कृष्णप्रेममें अनुरक्त हो जाता है, उसकी जड़ चेष्टाएँ दूर हो जाती हैं और वह अप्राकृत उन्मत्त या दिव्योन्मत्त कहलाता है। श्रीमन्महाप्रभुने कहा—रामानन्द! आप मुझे पृथक् एक गौरपुरुषके रूपमें देख रहे हैं, किन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ; मैं वही गोपेन्द्रनन्दन कृष्ण हूँ। राधा-अङ्ग-स्पर्शरूप मेरा यह गौरभाव ही नित्य है। जिनमें श्रीकृष्णचैतन्यतत्त्व और श्रीराधाकृष्णतत्त्वको समझनेकी सामर्थ्य है, वे ही श्रीस्वरूप गोस्वामीकी कृपासे उनके नित्य स्वरूपकी सेवा सदैव लिए प्राप्त कर सकते हैं ॥२८९-२९०॥

एईरूप दशरात्रि रामानन्द-संगे।

सुखे गोंवाइला प्रभु कृष्णकथा-रंगे ॥२९१॥

निगूढ व्रजेर रस-लीलार विचार।

अनेक कहिलु, तार ना पाइल पार ॥२९२॥

तामा, काँसा, रूपा, सोना, रत्न-चिन्तामणि।

केहो यदि काँहा पोता पाय एकखानि ॥२९३॥

क्रमे उठाइते सेह उत्तम वस्तु पाय।

ऐछे प्रश्नोत्तर कैल प्रभु रामराय ॥२९४॥

इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभुने श्रीराय रामानन्दके साथ दस रात्रियाँ व्यतीत कीं। इन रात्रियोंमें दोनों ही सुखपूर्वक कृष्णकथामें रङ्गे रहे। व्रजकी रसलीलाओंका विचार अति रहस्यमय है—अनेक प्रकारसे इसका वर्णन किया जाय तो भी इनका पार नहीं पाया जा सकता। कोई व्यक्ति एक ही खानमें जिस प्रकार ताँबा, काँसा, चाँदी, सोना, रत्न एवं चिन्तामणि दबा हुआ पाता है और क्रमसे खोदनेपर उत्तरोत्तर उत्तम वस्तु प्राप्त होती जाती है, ठीक इसी प्रकार राय रामानन्दके साथ प्रश्नोत्तरमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर तत्त्वकी प्राप्ति हुई है।

प्रस्तुत पयारोंमें श्रीकविराज गोस्वामीने ताँबा, काँसा, रूपादिकी उपमा देते हुए उन वर्णाश्रमधर्मसे लेकर मादनाख्य-महाभाव पर्यन्त उत्तमोत्तम साध्योंकी निदर्शना की है, जो प्रश्न-उत्तरके व्यपदेशसे अभिव्यक्त हुई है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य रस ही क्रमशः ताँबा, काँस्य, रूपा, सोना एवं रत्नचिन्तामणि तुल्य हैं। व्रजमें यमुनासलिल, पुलिनबालुका, कदम्बवृक्ष, गो-वेत्र-वेणु आदि शान्तरसके विग्रह हैं; चित्रक-पत्रक, रक्तकादि दास्यरसके विग्रह हैं; दाम, श्रीदाम, सुबल आदि सख्यरसके विग्रह हैं; नन्दराय, यशोदा वात्सल्यरसके विग्रह हैं, राधा, ललितादि गोपरामागण माधुर्यरसमें निज-निज भावोंके धनी हैं। ताँबा आदि तारतम्यमें पर-पर धातु श्रेष्ठ है; जिस प्रकार वर्णाश्रमधर्ममें पर-पर भक्ति श्रेष्ठ है। उपमाओंके तारतम्यमें ताँबा—वर्णाश्रम आचरण है, जो ताँबाके समान साधारण, अल्पमूल्य एवं असंग्रहणीय होनेके कारण त्याज्य है। यह वर्णाश्रमधर्म आरोपसिद्धाभक्तिके अन्तर्गत

है। ताँबे एवं जस्तेसे मिश्रित धातु काँसेके समान ज्ञानमिश्राभक्ति है, जो श्रेष्ठ साध्य नहीं है। शुद्ध धातु चाँदी स्वरूपसिद्धाभक्ति है, जो मिश्रित वस्तुसे उत्तम है। सोना—प्रेमभक्ति दास्यादि है, जो स्वरूपसिद्ध-भक्तिसे उत्तम एवं समृद्ध है। सख्य एवं वात्सल्यरससे युक्त प्रेममयी भक्ति रत्न-स्थानीय है, जिसमें श्रीकृष्ण वशीभूत हो जाते हैं। सर्वरत्नशिरोमणि चिन्तामणि श्रीराधाका मादनाख्य-महाभाव है जो सुदुर्लभ है और श्रीकृष्णके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है ॥२९१-२९४॥

आर दिन राय-पाशे विदाय मागिला।

विदायेर काले तारै एइ आज्ञा दिला ॥२९५॥

विषय छाड़िया तुमि याह नीलाचले।

आमि तीर्थ करि' ताँहा आसिव अल्पकाले ॥२९६॥

दुईजने नीलाचले रहिब एकसङ्गे।

सुखे गोडाइव काल कृष्णकथा-रङ्गे ॥२९७॥

एत बलि' रामानन्दे करि' आलिङ्गन।

तारै घरे पाठाइया करिल शयन ॥२९८॥

प्रातःकाले उठि' प्रभु देखि' हनुमान्।

तारै नमस्करि' प्रभु दक्षिणे करिला प्रयाण ॥२९९॥

'विद्यापुरे' नाना-मत लोक वैसे यत।

प्रभु-दर्शने 'वैष्णव' हैल छाड़ि निजमत ॥३००॥

रामानन्द हैला प्रभुर विरहे विह्वल।

प्रभुर ध्याने रहे विषय छाड़िया सकल ॥३०१॥

संक्षेपे कहिलुँ रामानन्देर मिलन।

विस्तारि वर्णिते नारे सहस्र-वदन ॥३०२॥

दूसरे दिन श्रीराय रामानन्दसे श्रीमन्महाप्रभुने विदा माँगी। विदाके अवसरपर श्रीमन्महाप्रभुने उन्हें यह आज्ञा दी—सांसारिक विषयोंका परित्याग करके आप नीलाचल चले जाइए और मैं तीर्थभ्रमण करके अल्प समयमें ही वहाँ आ जाऊँगा। हम दोनों नीलाचलमें एक साथ

रहेंगे और परस्पर कृष्णकथाका श्रवण-कीर्तनकर सुखपूर्वक समय बिताएँगे। इतना कहकर श्रीमन्महाप्रभुने श्रीराय रामानन्दजीका आलिङ्गन किया और उन्हें घर लौटाकर स्वयं शयन हेतु चले गए। प्रातःकाल उठकर महाप्रभुने हनुमानजीके दर्शन किए और उन्हें प्रणामकर दक्षिण भारतके तीर्थोंकी ओर प्रयाण किया। वहाँसे वे विद्यापुर पहुँचे, जहाँके लोग अनेक प्रकारके मतवलम्बी थे। श्रीमन्महाप्रभुका दर्शन करते ही वे लोग उन विविध मतवादोंको छोड़कर वैष्णव हो गए। इधर राय रामानन्द प्रभुके विरहमें अति व्याकुल हो गए और सारे विषयोंका त्याग करके महाप्रभुजीके ध्यानमें लगे रहते थे। श्रील कविराज गोस्वामी कहते हैं कि श्रीमन्महाप्रभु एवं राय रामानन्दके मिलनका मैंने संक्षेपमें वर्णन किया। जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन अपने सहस्र मुखोंसे भगवान् श्रीशेष भी नहीं कर सकते।

श्रील भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं विद्यानगरमें हनुमानजीकी पूजा होती है, उन ग्राम्य-देवताको श्रीमन्महाप्रभुने नमस्कारकर दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥२९६-३०२॥

सहजे चैतन्य-चरित्र—घनदुग्धपूर।

रामानन्द-चरित्र ताहे खण्ड प्रचुर ॥३०३॥

राधाकृष्ण लीला—ताते कर्पूर-मिलन।

भाग्यवान् येई, सेई करे आस्वादन ॥३०४॥

ये इहा एकबार पिये कर्णद्वारे।

तार कर्ण लोभे इहा छाड़िते ना पारे ॥३०५॥

‘रसतत्त्व-ज्ञान’ हय इहार श्रवणे।

‘प्रेमभक्ति’ हय राधाकृष्णे चरणे ॥३०६॥

चैतन्ये गूढ़तत्त्व जानि इहा हैते।

विश्वास करि’ शुन, तर्क ना करिह चित्ते ॥३०७॥

श्रीचैतन्यका चरित स्वाभाविक रूपसे घनावर्त दुग्ध (रबड़ी) के सदृश है और श्रीराय रामानन्दका चरित सुमधुर मिश्रीके समान है, जो इसमें मिलकर मधुरातिमधुर हो गया है। श्रीराधाकृष्णकी लीला

उसमें कर्पूरके समान मिश्रित है, जिसका कोई-कोई भाग्यवान ही आस्वादन कर सकता है। जो भी मनुष्य अपने कर्ण-द्वारसे एक बार भी इसका पान कर लेता है, फिर तो माधुर्यके लोभी उसके कान इसे कभी छोड़ना नहीं चाहते। इस मिलन-प्रसङ्गके श्रवणसे सम्पूर्ण रसतत्त्वका ज्ञान हो जाता है और श्रीराधाकृष्णके श्रीचरणकमलोंमें प्रेमभक्तिकी उपलब्धि हो जाती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुका चरित अत्यन्त रहस्यमय है—उस रहस्यका ज्ञान इसके श्रवणसे ही होता है। अपने मनमें किसी भी प्रकारका तर्क-कृतर्क न करके इसे विश्वासपूर्वक सुनिए ॥३०३-३०७॥

अलौकिक लीला एइ परम निगूढ़।

विश्वासे पाइये, तर्के हय बहुदूर ॥३०८॥

श्रीचैतन्य-नित्यानन्द-अद्वैत-चरण ।

याँहार सर्वस्व, तौर मिले एइ धन ॥३०९॥

रामानन्द राये मोर कोटि नमस्कार।

याँर मुखे कैल प्रभु रसेर विस्तार ॥३१०॥

दामोदर-स्वरूपेर कड़चा अनुसारे।

रामानन्द-मिलन-लीला करिल प्रचारे ॥३११॥

श्रीरूप-रघुनाथ-पदे यार आश।

चैतन्यचरितामृत कहे कृष्णदास ॥३१२॥

श्रीमन्महाप्रभुजीकी यह लीला अति निगूढ़ एवं रहस्यमय है। जिसे विश्वास है, वही इसे प्राप्त कर सकता है, तार्किक लोगोंसे तो यह बहुत दूर है। श्रीचैतन्यमहाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु एवं श्रीअद्वैताचार्य प्रभुके चरणारविन्दोंको जिन्होंने अपना सर्वस्व मान लिया है, उनको ही इस रस-सम्पत्तिकी प्राप्ति हो सकती है। श्रीमान् राय रामानन्दके श्रीचरणोंमें मैं (श्रीलकृष्णदास कविराज गोस्वामी) कोटिशः प्रणाम करता हूँ, जिनके मुखारविन्दसे श्रीचैतन्य महाप्रभुने प्रेमरस-सम्पत्तिका विस्तार करवाया है। यह रामानन्द मिलनलीला श्रीस्वरूप दामोदरके कड़चेके अनुसार ही अभिव्यञ्जित की है। श्रीरूप-रघुनाथ गोस्वामीके

चरणकमलोंकी कृपाभिलाषा करते हुए कृष्णदासने इस श्रीचैतन्य-चरित-
अमृतका वर्णन किया है ॥३०८-३१२॥

समाप्त

